

अच्युत

विषय-सूची

अन्तराधिकरण [पृ० २०३०—२०३५]

व्यतिहाराधिकरण [पृ० २०३६—२०४०]

सत्याद्यधिकरण [पृ० २०४१—२०४७]

कामाद्यधिकरण [पृ० २०४८—२०५१]

आदराधिकरण [पृ० २०५२—२०६०]

तन्निर्धारणाधिकरण [पृ० २०६१—२०७०]

प्रदानाधिकरण [पृ० २०७१—२०८१]

लिङ्गभूयस्त्वाधिकरण [पृ० २०८२—२०९९]



ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥



तन्वन् श्रीश्रुतिसिद्धसन्मतमहाग्रन्थप्रकाशप्रथाम्,
ब्रह्माद्वैतसमिद्धशङ्करगिरां माधुर्य्यमुद्भावयन् ।
अज्ञानान्धतमिस्ररुद्धनयनान् दिव्यां दृशं लम्भयन्,
भक्तिज्ञानपथे स्थितो विजयतामाकल्पमेषोऽच्युतः ॥

वर्ष २ } कार्तिक पूर्णिमा १९९२ { अङ्क १०

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभि-
र्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

अच्युताष्टकम् ।

अच्युतं केशवं रामनारायणं कृष्णदामोदरं वासुदेवं हरिम् ।
श्रीधरं माधवं गोपिकावल्लभं जानकीनायकं रामचन्द्रं भजे ॥१॥
अच्युतं केशवं सत्यभामाधवं माधवं श्रीधरं राधिकाराधितम् ।
इन्दिरामन्दिरं चेतसा सुन्दरं देवकीनन्दनं नन्दजं सन्दधे ॥२॥
विष्णवे जिष्णवे शङ्खिने चक्रिणे रुक्मिणीरागिणे जानकीजानये ।
वल्लवीवल्लभायार्चितायात्मने कंसविध्वंसिने वंशिने ते नमः ॥३॥
कृष्ण गोविन्द हे राम नारायण श्रीपते वासुदेवाऽजित श्रीनिधे ।
अच्युताऽनन्त हे माधवाऽधोक्षज द्वारकानायक द्रौपदीरक्षक ॥४॥
राक्षसक्षोभितः सीतया शोभितो दण्डकारण्यभूपुण्यताकारणः ।
लक्ष्मणेनाऽन्वितो वानरैः सेवितोऽगस्त्यसंपूजितो राघवः पातु माम् ॥५॥
धेनुकारिष्टकोऽनिष्टकोऽनिष्टकृद् द्वेषिणां केशिहा कंसहृद्वंशिकावादकः ।
पूतनाकोपकः सूरजाखेलनो बालगोपालकः पातु मां सर्वदा ॥६॥
विद्युदुद्योतवत् प्रस्फुरद्वाससं प्रावृडम्भोदवत् प्रोल्लसद्विग्रहम् ।
वन्यया मालया शोभितोरःस्थलं लोहिताङ्घ्रिद्वयं वारिजाक्षं भजे ॥७॥
कुञ्चितैः कुन्तलैर्भ्राजमानाननं रत्नमौलिं लसत्कुण्डलं गण्डयोः ।
हारकेयूरकं कङ्कणप्रोज्ज्वलं किङ्किणीमञ्जुलं श्यामलं तं भजे ॥८॥
अच्युतस्याऽष्टकं यः पठेदिष्टदं प्रेमतः प्रत्यहं पूरुषः सस्पृहम् ।
वृत्ततः सुन्दरं कर्तृ विश्वम्भरं तस्य वश्यो हरिर्जायते सत्वरम् ॥९॥

—श्रीशङ्कराचार्य्याः



भाष्य

नियमाभ्युपगमे प्रकरणविरोध उक्तः। नैषोऽस्ति विरोधः, शब्दानुमानाभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्यामित्यर्थः। तथा हि श्रुतिः—'तद्य इत्थं विदुः' (छा० ५।१०।१) इति पञ्चाग्निविद्यावतां देवयानं पन्थानमवतारयन्ती 'ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते' (छा० ५।१०।१) इति विद्यान्तरशीलिनामपि पञ्चाग्नि-विद्याविद्भिः समानमार्गतां गमयति। कथं पुनरवगम्यते विद्यान्तर-शीलिनामियं गतिरिति, ननु श्रद्धातपःपरायणानामेव स्यात्, तन्मात्र-

भाष्यका अनुवाद

गतिका होना युक्त है। अनियमका स्वीकार करनेमें प्रकरणका विरोध कहा गया है। नहीं, यह विरोध नहीं है, क्योंकि इसमें शब्द और अनुमान—श्रुति और स्मृति प्रमाण हैं, ऐसा अर्थ है। श्रुति और स्मृति इन दो प्रमाणोंमेंसे श्रुति यह है—'तद्‌य इत्थं विदुः' (उनमें—लोकके प्रति उत्थित हुए अधिकृत गृह-मेधियोंमें—जो इस प्रकार यथोक्त पञ्चाग्निदर्शन—द्युलोकादि अग्निसे हम क्रमसे उत्पन्न हुए पंचाग्निस्वरूप हैं, ऐसा जानते हैं) यह श्रुति पंचाग्निविद्याके उपा-सकोंके लिए देवयान मार्गका उपदेश करती हुई, 'ये चेमेऽरण्ये०' (और जो अरण्योपलक्षित वैखानस और परिव्राजक श्रद्धा और तपकी उपासना करते हैं) इस प्रकार अन्य विद्याके वेत्ताओंका भी पंचाग्निविद्याके वेत्ताओंके समान ही मार्ग बतलाती है। परन्तु सगुण विद्याओंकी उपासना करनेवालोंकी यह गति है, ऐसा कैसे समझा जाता है? श्रद्धा और तपमें संलग्न अरण्यवासियोंको

रत्नप्रभा

प्रकरणबाधो न दोष इत्याह—नैष इति। तत्—तत्र अधिकृतानां मध्ये 'ये इत्थं पञ्चाग्नीन् विदुः' 'ये चामी अरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते' श्रद्धातपउपलक्षितं ब्रह्म ध्यायन्ति, तेऽर्चिषमभिसम्भवन्तीत्यन्वयः। ननु श्रद्धातपोमात्रश्रुतेः ताभ्यामेव अर्चिरादिगमनं स्यात्, न वैश्वानरादिविद्याशीलानामिति शङ्कते—कथं पुनरिति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रकरणका बाध होना दोष नहीं है, ऐसा कहते हैं—"नैषः" इत्यादिसे। 'तद्य इत्थं विदुः'—उनमें—अधिकृत पुरुषोंमें जो इस प्रकार पंचाग्नियोंको जानते हैं और जो ये लोक अरण्यमें श्रद्धातपकी उपासना करते हैं, श्रद्धा और तपसे उपलक्षित ब्रह्मका ध्यान करते हैं, वे अर्चिमार्ग प्राप्त करते हैं, ऐसा अन्वय है। परन्तु केवल श्रद्धा और तपका श्रवण होनेसे उन दोनोंसे ही अर्चिरादिगमन होगा, वैश्वानरादिविद्याओंके जाननेवालोंको नहीं होगा, ऐसी शंका करते हैं—"कथं पुनः" इत्यादिसे। अविद्वानोंकी गतिका निषेध होनेसे

भाष्य

श्रवणात् । नैष दोषः, नहि केवलाभ्यां श्रद्धातपोभ्यामन्तरेण विद्याबलमेषा गतिर्लभ्यते—

'विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः ।
न तत्र दक्षिणा यन्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः ॥'

इति श्रुत्यन्तरात् । तस्मादिह श्रद्धातपोभ्यां विद्यान्तरोपलक्षणम् । वाजसनेयिनस्तु पञ्चाग्निविद्याधिकारेऽधीयते—'य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते' (बृ० ६।२।१५) इति, तत्र श्रद्धालवो ये सत्यं ब्रह्मोपासते इति व्याख्येयम्, सत्यशब्दस्य ब्रह्मण्यसकृत्प्रयुक्तत्वात् ।

भाष्यका अनुवाद

ही यह गति प्राप्त होती है, क्योंकि श्रुतिमें केवल उन्हींका श्रवण है। यह दोष नहीं है, क्योंकि विद्याबलके बिना केवल श्रद्धा और तपसे यह गति प्राप्त नहीं होती, कारण कि 'विद्यया तदारोहन्ति०' (विद्यासे उसमें—ब्रह्मलोकमें आरूढ़ होते हैं, जहां जानेपर कामनाएँ परावृत्त हो जाती हैं, वहां केवल कर्ममें लीन तपस्वी अविद्वान् पुरुष नहीं जा सकते) ऐसी दूसरी श्रुति है। इससे प्रतीत होता है कि यहांपर श्रद्धा और तपसे अन्य विद्याओंका उपलक्षण है । वाजसनेयी तो पंचाग्निविद्याके अधिकरणमें 'य एवमेतद्विदुः०' (जो इस प्रकार इस पंचाग्निविद्याको जानते हैं और अरण्यमें सत्यकी उपासना करते हैं, वे अर्चिमार्ग प्राप्त करते हैं) इस प्रकार कहते हैं । जो श्रद्धालु सत्य—ब्रह्मकी उपासना करते हैं, ऐसा व्याख्यान करना चाहिए, क्योंकि सत्यशब्द ब्रह्मके लिए अनेक बार प्रयुक्त हुआ है । और पंचाग्निविद्यो-

रत्नप्रभा

अविदुषां गतिनिषेधात् श्रद्धातपःशब्दाभ्यां तत्साध्यब्रह्मविद्यालक्षणेति परिहरति—**नैष दोष इति** । तत्—ब्रह्मलोकस्थानम्, परागताः—परावृत्ताः, कामक्रोधदोषा न सन्तीति यावत् । दक्षिणाः केवलकर्मिणः तपस्विनोऽपि अविद्वांसो न गच्छन्तीत्यर्थः । लक्षणादोषहीनं वाक्यमाह—**वाजसनेयिनस्त्विति** । किञ्च, विद्याकर्मलक्षण-

रत्नप्रभाका अनुवाद

श्रद्धा और तप इन शब्दोंसे ब्रह्मविद्या लक्षित होती है, इस प्रकार शंकाका परिहार करते हैं—"नैष दोषः" इत्यादिसे । तत्—ब्रह्मलोक स्थान । परागताः—परावृत्त हुए, काम, क्रोध, ये दोष नहीं हैं, ऐसा अर्थ है । दक्षिण अर्थात् केवल कर्मी तपस्वी भी यदि विद्वान् न हों, तो वे नहीं जाते, ऐसा अर्थ है । लक्षणादोषसे हीन वाक्यको कहते हैं,—"वाजसनेयिनस्तु" इत्यादिसे । और विद्यालक्षण और कर्मलक्षण इन दोनों मार्गोंसे भ्रष्ट हुए अधोगतिको

भाष्य

पञ्चाग्निविद्याविदां चेत्थंवित्तयैवोपात्तत्वाद् विद्यान्तरपरायणानामेवैतदुपादानं न्याय्यम्। 'अथ य एतौ पन्थानौ न विदुस्ते कीटाः पतङ्गा यदिदं दन्दशूकम्' (बृ० ६।२।१६) इति च मार्गद्वयभ्रष्टानां कष्टामधोगतिं गमयन्ती श्रुतिर्देवयानपितृयाणयोरेवैनानन्तर्भावयति। तत्राऽपि विद्याविशेषादेषां देवयानप्रतिपत्तिः। स्मृतिरपि—

'शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्यया वर्तते पुनः॥' (भ०गी० ८।२६) इति।

भाष्यका अनुवाद

पासकोंका 'य इत्थं विदुः' इस वाक्यसे इत्थंवित्त्वका ही ग्रहण किया है, इसलिए अन्य विद्यामें संलग्न हुए लोगोंका ही यह ग्रहण उचित है। और 'अथ य एतौ' (अब जो उत्तर और दक्षिण इन दोनों मार्गोंको नहीं जानते—उत्तर या दक्षिण मार्ग प्राप्त करनेके लिए ज्ञान या कर्मका अनुष्ठान नहीं करते—वे कीट, पतंग और सर्प आदि होते हैं) यह श्रुति दोनों मार्गोंसे भ्रष्ट हुए लोगोंको दुःखदायिनी अधोगति प्राप्त होती है ऐसा ज्ञान कराती हुई देवयान और पितृयानमें ही इन लोकोंका अन्तर्भाव करती है। उसमें भी विद्याविशेषसे इनको देवयान प्राप्त होता है। स्मृति भी है—'शुक्लकृष्णे गती०' (ज्ञान और कर्मके अधिकारी जनोंकी ये दो प्रकाश और अप्रकाशरूप गतियां—मार्ग नित्य मानी गई हैं, उनमेंसे एकसे—शुक्लसे अनावृत्ति-मोक्ष पाता है और अन्यसे—कृष्णसे पुनः पुनः

रत्नप्रभा

मार्गद्वयभ्रष्टानामधोगतिश्रुतेः वैश्वानराद्युपासकानामर्चिरादिमार्गप्राप्तिरित्याह—**अथ य एताविति**। दन्दशूकः—सर्पः। किञ्च, 'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्। तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः' इत्यविशेषेण उपासकानाम् अर्चिरादिगतिमुक्त्वोपसंहारस्मृतेश्च तेषां तत्प्राप्तिरित्याह—**स्मृतिरिति**। शुक्ला

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्राप्त होते हैं— ऐसी श्रुति होनेसे वैश्वानरादिके उपासकोंको अर्चिरादि मार्गकी प्राप्ति होती है, ऐसा कहते हैं—"अथ य एतौ" इत्यादिसे। दन्दशूक—सर्प। और 'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः०' (अग्नि, ज्योति, अहर्देवता, शुक्लपक्ष देवता और छः मास उत्तरायणकी अभिमानिनी देवता, उस मार्गसे ब्रह्म जाननेवाले पुरुष क्रमसे जाकर ब्रह्म प्राप्त करते हैं—इस प्रकार समानरूपसे उपासकोंकी अर्चिरादि गति कहकर उपसंहारस्मृतिसे उनकी ब्रह्मप्राप्ति कहते हैं—"स्मृतिः" इत्यादिसे। शुक्ला गति—अर्चिरादिमार्ग कृष्णा गति—धूमादिमार्ग

भाष्य

यत् पुनर्देवयानस्य पथो द्विराम्नानमुपकोसलविद्यायां पञ्चाग्निविद्यायां च, तदुभयत्राप्यनुचिन्तनार्थम् । तस्मादनियमः ॥ ३१ ॥

भाष्यका अनुवाद

संसारमें आवृत्त होता है) देवयान मार्गका उपकोसलविद्यामें और पंचाग्नि-विद्यामें जो दो बार कथन है वह उन दोनों विद्याओंमें ध्यानके लिए है । अतः गतिका अनियम है ॥ ३१ ॥

रत्नप्रभा

गतिः—अर्चिरादिका, कृष्णा—धूमादिका, जगतः—विद्याकर्माधिकृतस्य, शाश्वते—ध्रुवे, मते—सम्मते, तत्र एकया शुक्लया पुनरावृत्तिवर्जं कार्यं ब्रह्म गच्छति । अन्यया स्वर्गे गत्वा पुनरायातीत्यर्थः । पुनरुक्तिदोषं दूषयति—यत्पुनरिति । तत्र तत्र मार्गश्रुतिः अन्वहं मार्गचिन्तनार्थम्, प्रकरणेन मार्गध्यानस्य विद्याङ्गत्वावगमात् । तथा च वक्ष्यति सूत्रकारः—'तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च' (ब्र० सू० ४।२।१७) इति । येषां न श्रुतो मार्गः, ते मार्गध्यानं विनाऽपि विद्यासामर्थ्यात् मार्गं लभन्ते इति ज्ञापनार्था पुनरुक्तिः इत्यर्थः । तस्मात् सर्वोपासनासु प्रतीकभिन्नासु अर्चिरादिप्राप्तिः इति सिद्धम् ॥ ३१ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

जगतः—विद्या और कर्ममें अधिकृत पुरुषकी शाश्वते—ध्रुव कही गई है । उनमेंसे शुक्ल गतिसे पुनरावृत्तिसे रहित कार्य ब्रह्मको प्राप्त करता है, दूसरीसे स्वर्गमें जाकर पुनः संसारमें आता है, ऐसा अर्थ है । पुनरुक्ति दोषका निराकरण करते हैं—"यत्पुनः" इत्यादिसे । तत्-तत् स्थलोंमें मार्गश्रुति प्रतिदिन मार्गचिन्तनके लिए है, क्योंकि प्रकरणसे मार्गध्यान विद्याका अंग है, ऐसा जाना जाता है । जिनका मार्ग श्रुतिमें नहीं है, वे मार्गध्यानके बिना भी विद्या-सामर्थ्यसे मार्ग प्राप्त करते हैं, यह सूचित करनेके लिए पुनरुक्ति है, ऐसा अर्थ है । इससे प्रतीकभिन्न सब उपासनाओंमें अर्चिरादिकी प्राप्ति होती है, यह सिद्ध हुआ ॥ ३१ ॥



[१९ यावदधिकाराधिकरण सू० ३२]

ब्रह्मतत्त्वविदां मुक्तिः पाक्षिकी नियताऽथवा ।
पाक्षिक्यपान्तरतमःप्रभृतेर्जन्मकीर्तनात् ॥ १ ॥
नानादेहोपभोक्तव्यमीशोपास्तिफलं बुधाः ।
भुक्त्वाधिकारिपुरुषा मुच्यन्ते नियता ततः* ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—ब्रह्मज्ञानी पुरुषोंकी मुक्ति पाक्षिकी—अनियत है या नियत है ?

पूर्वपक्ष—ब्रह्मतत्त्ववेत्ताओंकी मुक्ति अनियत ही है, क्योंकि अपान्तरतमा आदिकी जन्मगाथा प्रसिद्ध है ।

सिद्धान्त—तत्त्वज्ञानियोंकी मुक्ति नियत है, परन्तु ईश्वरोपासनाजन्य अनेक शरीरोंसे भोक्तव्य फलोंके उपभोगके अनन्तर उन अधिकारी तत्त्वज्ञानी जनोंकी मुक्ति होती है, अतः तत्त्वज्ञानियोंकी मुक्ति नियत ही है ।

---

* इस अधिकरणका सारांश यह है कि पुराणोंमें अपान्तरतमा नामवाले वेदप्रवर्तक आचार्य द्वापरके अन्तमें भगवान् विष्णुकी आज्ञाके अनुसार कृष्णद्वैपायनके रूपसे उत्पन्न हुए यह सुना जाता है, वैसे सनत्कुमार स्कन्दरूपसे पार्वती और महेश्वरसे उत्पन्न हुए, इसी तरह अन्य भी वसिष्ठप्रभृति तत्त्वज्ञानियोंने शापद्वारा यत्र तत्र अन्य अन्य शरीरोंको धारण किया, ऐसा भी सुना जाता है, अतः तत्त्वविदोंकी मुक्ति नियत नहीं है, ऐसा पूर्वपक्षीका अभिप्राय है ।

सिद्धान्ती कहते हैं कि—जो तुमने अपान्तरतमा आदि दृष्टान्तरूपसे उद्धृत किये हैं, वे सब जगत्‌का निर्वाह करनेवाले हैं । और पूर्वकल्पमें बड़े तपके प्रभावसे परमेश्वरकी उपासना करके इस कल्पमें अनेक शरीरोंसे उपभोग्य अधिकारी-पदको प्राप्त कर अन्तमें प्रारब्ध कर्मोंके क्षीण होनेपर मोक्षपदवीको अवश्य प्राप्त करते हैं । और जो आरब्ध कर्म नहीं हैं, उनकी तत्त्वज्ञानसे अवश्य निवृत्ति होती है, अतः तत्त्वज्ञानियोंकी मुक्ति अवश्य होती है ।

यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ॥ ३२ ॥

पदच्छेद—यावदधिकारम्, अवस्थितिः, आधिकारिकाणाम् ।

पदार्थोक्ति—[अपान्तरतमःप्रभृतीनाम्] आधिकारिकाणाम्—अधिकारसम्पन्नानाम्—लोकव्यवस्थाहेतुष्वधिकारेषु परमेश्वरेण नियुक्तानां सम्यग्दर्शनतः प्रक्षीणकर्मणाम् यावदधिकारम्—यावत्प्रारब्धकर्म अवस्थितिः—अवस्थानम् [भवतीत्यर्थः] ।

भाषार्थ—लोकव्यवस्थाके हेतुभूत अधिकारोंमें विनियुक्त यथार्थ विज्ञानसे जिनके कर्म प्रक्षीण हो गये हैं ऐसे अपान्तरमा प्रभृति बड़े बड़े महर्षि लोगोंकी प्रारब्ध कर्मों तक अवस्थिति रहती है, ऐसा अर्थ है ।

भाष्य

विदुषो वर्तमानदेहपातानन्तरं देहान्तरमुत्पद्यते, न वेति चिन्त्यते । ननु विद्यायाः साधनभूतायाः संपत्तौ कैवल्यनिर्वृत्तिः स्यान्न वेति नेयं चिन्तोपपद्यते । नहि पाकसाधनसम्पत्तावोदनो भवेन्न वेति चिन्ता संभवति । नापि भुञ्जानस्तृप्येन्न वेति चिन्त्यते । उपपन्ना त्वियं चिन्ता,

भाष्यका अनुवाद

विद्वान्‌के वर्त्तमान शरीरका पात होनेपर अन्य शरीर उत्पन्न होता है या नहीं ? इसपर विचार किया जाता है । परन्तु साधनभूत विद्याकी प्राप्ति होनेपर मोक्ष निष्पन्न होता है या नहीं ? इसपर विचार करना ठीक नहीं है, क्योंकि पाकके साधनोंकी प्राप्ति होनेपर पाक बनेगा या नहीं, ऐसा विचार करना ठीक नहीं है । और भोजन करनेवाला तृप्त होगा या नहीं, इसपर भी विचार नहीं किया जा सकता । यह विचार उपपन्न है, क्योंकि

रत्नप्रभा

यावदधिकारमव० । निर्गुणविद्यायां गतिर्व्यर्था मुक्तिफलत्वात्, सगुणविद्यासु सर्वत्र अर्थवती ब्रह्मलोकफलत्वादिति व्यवस्था कृता । सा न युक्ता, तत्त्वज्ञानिनाम् अपि इतिहासादौ पुनर्जन्मदर्शनेन ज्ञानस्य मुक्तिफलत्वाभावाद् इत्याक्षेपात्

रत्नप्रभाका अनुवाद

'यावदधिकारम्०' इत्यादि । निर्गुणविद्यामें गति व्यर्थ है, क्योंकि इस विद्याका फल मुक्ति है और सगुण विद्यामें गति सर्वत्र प्रयोजनवाली है, क्योंकि इस विद्याका फल ब्रह्मलोककी प्राप्ति है—इस प्रकार जो व्यवस्था की गई है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि इतिहास आदिमें तत्त्वज्ञानियोंका भी पुनर्जन्म देखनेमें आता है, इसलिए ज्ञानका फल मुक्ति नहीं है, ऐसे आक्षेपसे

भाष्य

ब्रह्मविदामपि केषांचिदितिहासपुराणयोर्देहान्तरोत्पत्तिदर्शनात्। तथा ह्यपान्तरतमा नाम वेदाचार्यः पुराणर्षिर्विष्णुनियोगात् कलिद्वापरयोः सन्धौ कृष्णद्वैपायनः संबभूवेति स्मरन्ति। वसिष्ठश्च ब्रह्मणो मानसः पुत्रः सन् निमिशापादपगतपूर्वदेहः पुनर्ब्रह्मादेशान्मित्रावरुणाभ्यां संबभूवेति। भृग्वादीनामपि ब्रह्मण एव मानसपुत्राणां वारुणे यज्ञे पुनरुत्पत्तिः श्रूयते। सनत्कुमारोऽपि ब्रह्मण एव मानसः पुत्रः स्वयं रुद्राय वरप्रदानात् स्कन्दत्वेन प्रादुर्बभूव। एवमेव दक्षनारदप्रभृतीनां भूयसी देहान्तरोत्पत्तिः कथ्यते तेन तेन निमित्तेन स्मृतौ। श्रुतावपि मन्त्रार्थवादयोः प्रायेणोपलभ्यते। ते च

भाष्यका अनुवाद

इतिहास और पुराणमें कितने ही ब्रह्मवेत्ताओंकी अन्य देहकी उत्पत्ति देखी जाती है। जैसे कि अपान्तरतमा नामके वेदाचार्य, पुराण ऋषि विष्णुकी आज्ञासे कलि और द्वापरकी सन्धिमें कृष्णद्वैपायनरूपसे उत्पन्न हुए ऐसा स्मृतिकार कहते हैं। और ब्रह्माके मानस पुत्र वसिष्ठ निमिके शापसे पूर्व देहका त्याग करके ब्रह्माके आदेशसे मित्र वरुणसे उत्पन्न हुए। इसी प्रकार ब्रह्माके ही मानस पुत्र भृगु आदिकी भी वरुणके यज्ञमें पुनरुत्पत्ति कही गई है। ब्रह्माके ही मानस पुत्र सनत्कुमार भी स्वयं रुद्रको वरदान देनेके कारण कार्तिकेयरूपसे उत्पन्न हुए। इसी प्रकार स्मृतिमें तत् तत् निमित्तसे दक्ष, नारद आदिके अनेक शरीरोंकी उत्पत्ति कही गई है। और श्रुतिमें भी मन्त्र और अर्थवादमें प्रायः देखा जाता है। कितने ही

रत्नप्रभा

संगतिः। ज्ञानिनां पुनर्जन्मदर्शनं संशयबीजं भाष्ये दर्शितम्। पूर्वपक्षे ज्ञानात् मुक्तिश्रुतीनां ज्ञानस्तुतिमात्रत्वेन ज्ञानस्य मुक्तिफलत्वाभावे सति ब्रह्मलोकफलत्वाविशेषादर्चिरादिमार्गोपसंहारः फलम्, सिद्धान्ते तूक्तव्यवस्थासिद्धिः इति विवेकः। श्रुतावपीति। 'मेधातिथेर्मेष' इति मन्त्रे इन्द्रस्य मेषजन्म उपलभ्यते। वसिष्ठ उर्वशीपुत्रो जात इत्येवमर्थो बह्वृचार्थवाद इत्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूर्व अधिकरणसे इस अधिकरणकी संगति है। ज्ञानियोंका पुनर्जन्मदर्शन संशयका बीज भाष्यमें दिखलाया गया है। ज्ञानसे मुक्ति कहनेवाली श्रुतियाँ केवल ज्ञानकी स्तुतिका प्रतिपादन करती हैं, इसलिए ज्ञानका फल मुक्ति न होनेपर ब्रह्मलोकप्राप्ति फल समान होनेसे और अर्चिरादिमार्गका उपसंहार पूर्वपक्षमें फल है। सिद्धान्तमें तो उपर्युक्त व्यवस्थाकी सिद्धि फल है, यह पूर्वपक्ष और सिद्धान्तमें भेद है। "श्रुतावपि" इत्यादि। 'मेधातिथेर्मेष०'—इस मन्त्रमें इन्द्रका मेषरूपसे जन्म प्रतीत होता है। 'वसिष्ठ उर्वशीपुत्रो जातः' यह अर्थ बह्वृचोंका अर्थ-

भाष्य

केचित् पतिते पूर्वदेहे देहान्तरमाददते केचित्तु स्थिते एव तस्मिन् योगैश्वर्यवशादनेकदेहादानन्यायेन। सर्वे चैते समधिगतसकलवेदार्थाः स्मर्यन्ते। तदेतेषां देहान्तरोत्पत्तिदर्शनात् प्राप्तं ब्रह्मविद्यायाः पाक्षिकं मोक्षहेतुत्वमहेतुत्वं वेति।

अत उत्तरमुच्यते। न, तेषामपान्तरतमःप्रभृतीनां वेदप्रवर्तनादिषु लोकस्थितिहेतुष्वधिकारेषु नियुक्तानामधिकारतन्त्रत्वात् स्थितेः। यथाऽसौ भगवान् सविता सहस्रयुगपर्यन्तं जगतोऽधिकारं चरित्वा तदवसाने उदयास्तमयवर्जितं कैवल्यमनुभवति, 'अथ तत ऊर्ध्व उदेत्य नैवोदेता नास्तमेतै-

भाष्यका अनुवाद

पूर्वदेहपात होनेपर अन्य देहधारण करते हैं और कितने तो उस देहके रहते हुए ही योग ऐश्वर्यके बलसे अनेक देहग्रहण करनेके न्यायसे अन्य देहोंका ग्रहण करते हैं। और इन सबको सकल वेदार्थ ज्ञात था, ऐसा स्मृतियाँ कहती हैं। इसलिए इनके अन्य शरीरकी उत्पत्ति दिखाई देनेसे ब्रह्मविद्या मोक्षकी पाक्षिक हेतु है या अहेतु है, ऐसा प्राप्त होता है।

सिद्धान्ती—इससे उत्तर कहा जाता है—नहीं, वे अपान्तरतमा आदि लोकस्थितिके हेतु वेदप्रवर्तन आदि अधिकारमें नियुक्त हुए थे, अतः उनकी स्थिति अधिकारके अधीन है। जैसे यह भगवान् सूर्य हजार युग तक जगत्का अधिकार चलाकर उसकी समाप्ति होनेपर उदय और अस्तसे रहित कैवल्यका अनुभव करते हैं, क्योंकि 'अथ तत ऊर्ध्व०, (प्रारब्धकर्मके क्षीण होनेपर

रत्नप्रभा

'पाक्षिकम्' इत्यापाततः, अहेतुत्वम् एव इति पूर्वपक्षः। ज्ञानस्य मुक्त्यहेतुत्वं नेति सिद्धान्तयति—नेति। लोकव्यवस्थासु स्वामित्वम् अधिकारः, तत्प्रापकं प्रारब्धं यावदस्ति तावत् कालं जीवन्मुक्तत्वेनाऽधिकारिणामवस्थितिः, प्रारब्धक्षये प्रतिबन्धकाभावाद् विदेहकैवल्यम् इत्यत्र मानमाह—अथेति। अथ प्रारब्धक्षया-

रत्नप्रभाका अनुवाद

वाद है। ब्रह्मविद्या विकल्पसे मोक्षकी हेतु है यह आपाततः कहा गया है, वस्तुतः तो ब्रह्मविद्या मोक्षकी हेतु नहीं ही है, यही पूर्वपक्ष है। अब ज्ञान मुक्तिका अहेतु नहीं है, ऐसा सिद्धान्त करते हैं—"न" इत्यादिसे। लोकव्यवहारमें स्वामित्वका नाम अधिकार है। अधिकार प्राप्त करानेवाला प्रारब्ध कर्म जबतक रहता है तबतक जीवन्मुक्तरूपसे आधिकारिकोंकी स्थिति रहती है। प्रारब्ध कर्मके क्षीण होनेपर प्रतिबन्धकका अभाव होनेसे विदेह कैवल्य प्राप्त होता है, उसमें प्रमाण

भाष्य

कल एव मध्ये स्थाता' (छा० ३ । ११ । १) इति श्रुतेः । यथा च वर्तमाना ब्रह्मविदः प्रारब्धभोगक्षये कैवल्यमनुभवन्ति, 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' (छा० ६ । १४ । २) इति श्रुतेः । एवमपान्तरतमःप्रभृतयोऽपीश्वराः परमेश्वरेण तेषु तेष्वधिकारेषु नियुक्ताः सन्तः सत्यपि सम्यग्दर्शने कैवल्यहेतावक्षीणकर्माणो यावदधिकारमवतिष्ठन्ते, तदवसाने चाऽपवृज्यन्त इत्यविरुद्धम् । सकृत्प्रवृत्तमेव हि ते

भाष्यका अनुवाद

विलक्षण—केवल ब्रह्मस्वरूप—होकर, देहत्याग करके आदित्य न उदित होते हैं, न अस्त होते हैं, किन्तु अकेले ही मध्यमें रहते हैं) ऐसी श्रुति है । और जैसे वर्तमान ब्रह्मवेत्ता आरब्ध कर्मोंके भोगके क्षीण होनेपर कैवल्यका अनुभव करते हैं, क्योंकि 'तस्य तावदेव चिरं०' (जिसका अधिकाररूप बन्धन टूट गया है, उसके सदात्मरूपकी प्राप्तिमें तभीतक विलम्ब है जबतक कि देहसे विमुक्त नहीं होता, देहपात होते ही वह ब्रह्ममें सम्पन्न हो जाता है) ऐसी श्रुति है । उसी प्रकार परमेश्वरसे उन उन अधिकारोंमें नियुक्त हुए अपान्तरतमा आदि ईश्वर भी कैवल्यहेतु सम्यग्दर्शन (तत्त्वज्ञान) होनेपर कर्मोंके क्षीण न होनेसे अधिकारपर्यन्त रहते हैं, कर्मोंके क्षीण होनेपर मुक्त होते हैं, इसमें कोई विरोध नहीं है, क्योंकि अधिकारका फल देनेके लिए एक बार प्रवृत्त हुए

रत्नप्रभा

नन्तरम् । ततः—पश्चात्, ऊर्ध्वः—विलक्षणः, केवलः—ब्रह्मस्वरूपः सन् उदेत्य—उद्गम्य, देहं त्यक्त्वेति यावत् । एकल एव—अद्वितीयः, मध्ये—उदासीनात्मस्वरूपे तिष्ठति इत्यर्थः । ननु ज्ञानिनामपि जन्मान्तरं चेत् कथं मुक्तिः ? इत्यत आह—**सकृत्प्रवृत्तमेवेति** । यदि ज्ञानिनां प्रारब्धातिरिक्तकर्माधीनं जन्मान्तरं स्यात् , तदा ज्ञानाद् मुक्त्यभावः स्यात् , नैतदस्ति, किन्तु बहुजन्मफलाय सकृदुद्भूतं प्रारब्धं ते क्षपयन्ति,

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहते हैं—"अथ" इत्यादिसे । अथ—प्रारब्धके क्षीण होनेके अनन्तर । ततः—तत्पश्चात्, उर्ध्वः—विलक्षण, केवल—ब्रह्मस्वरूप होकर । उदेत्य—देहका त्याग करके । एकल एव—अकेला ही । मध्ये—उदासीनरूप स्वरूपमें रहता है, ऐसा अर्थ है । यदि ज्ञानीका भी अन्य जन्म हो, तो मुक्ति किस प्रकार होगी ? इसपर कहते हैं—"सकृत्प्रवृत्तमेव" इत्यादिसे । यदि ज्ञानियोंका अन्य जन्म प्रारब्धसे भिन्न कर्मोंके अधीन हो, तो ज्ञानसे

भाष्य

फलदानाय कर्माशयमतिवाहयन्तः स्वातन्त्र्येणैव गृहादिव गृहान्तरमन्यमन्यं देहं संचरन्तः स्वाधिकारनिर्वर्तनायाऽपरिमुषितस्मृतय एव देहेन्द्रियप्रकृतिवशित्वान्निर्माय देहान् युगपत् क्रमेण वाऽधितिष्ठन्ति । न चैते जातिस्मरा

भाष्यका अनुवाद

कर्माशयको समाप्त करते हुए एक घरसे दूसरे घरके समान अन्य अन्य देहमें संचार करते हुए अपना अधिकार चलानेके लिए स्मृतिका लोप हुए बिना ही वे देह और इन्द्रियोंकी प्रकृतिको अपने वशमें करके देहोंका निर्माण करके एक ही समय या क्रमसे उनमें प्रवेश करते हैं। और पूर्व जन्मका स्मरण करनेवाले

रत्नप्रभा

जन्मग्रहणेऽपि ज्ञानयोगबलाद् न शोचन्ति, प्रारब्धसमाप्तौ मुच्यन्ते इत्यर्थः । ज्ञानिनां जन्मान्तरस्य पूर्वजन्महेतुप्रारब्धाधीनतायाम् अलुप्तस्मृतित्वं हेतुः, यो ह्यजातिस्मरत्वे सति कर्मान्तराधीनजन्मान्तरवान्, स लुप्तस्मृतिरिति व्याप्तेः, ज्ञानिषु व्यापकाभावाद् विशिष्टव्याप्याभावसिद्धिः । ननु तेषां जातिस्मरत्वादलुप्तस्मृतित्वमन्यथासिद्धमित्यत आह—न चैत इति । तथा च तेषामजातिस्मरत्वरूपविशेषणे सति विशेष्याभावादेव विशिष्टाभावसिद्धिरित्यर्थः । पूर्वदेहनामप्रत्यभिज्ञानहीनाः परतन्त्राः साभिमानाः जातिस्मराः, आधिकारिकास्तु पूर्वनामानः

रत्नप्रभाका अनुवाद

मुक्तिका अभाव होगा, परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि वे अनेक जन्मोंमें फलके लिए एक बार उत्पन्न हुए प्रारब्धको क्षीण करते हैं, यद्यपि वे जन्मग्रहण करते हैं, तो भी ज्ञानयोगके बलसे शोक नहीं करते और प्रारब्ध समाप्त होनेपर मुक्त हो जाते हैं; ऐसा अर्थ है। ज्ञानियोंके अन्य जन्मके पूर्वजन्मके हेतुभूत प्रारब्धके अधीन होनेमें अलुप्तस्मृतित्व—स्मृतिलुप्त न होना—हेतु है, क्योंकि जो अजातिस्मर होनेपर कर्मान्तरके अधीन जन्मान्तर वाला है, वह लुप्तस्मृति है—ऐसी व्याप्ति है। इस व्याप्तिमें ज्ञानियोंमें व्यापकका अभाव है—ज्ञानी लुप्तस्मृति नहीं है—इसलिए विशिष्ट व्याप्यका अभाव [अजातिस्मर होनेसे कर्मान्तरके अधीन जन्मान्तरवाले—इस व्याप्यका अभाव] सिद्ध होता है। यदि कोई कहे कि विद्वानोंके जातिस्मर होनेसे उनका अलुप्तस्मृतित्व अन्यथासिद्ध है, इस शंकाका परिहार करते हैं—"न चैते" इत्यादिसे। अर्थात् उनमें अजातिस्मरत्वरूप विशेषणके रहनेपर विशेष्यका अभाव है [कर्मान्तरके अधीन जन्मान्तरवाले हैं इस विशेष्यका अभाव है, क्योंकि उनका जन्मान्तर प्रारब्धके ही अधीन है] इसीसे विशिष्टका—विशेषण सहित विशेष्यका अभाव सिद्ध होता है, ऐसा अर्थ है।

भाष्य

इत्युच्यन्ते 'त एवैते' इति स्मृतिप्रसिद्धेः। यथा हि 'सुलभा नाम ब्रह्मवादिनी जनकेन विवदितुकामा व्युदस्य स्वं देहं जानकं देहमाविश्य व्युद्य तेन पश्चात् स्वमेव देहमाविवेश' इति स्मर्यते। यदि ह्युपयुक्ते सकृत्प्रवृत्ते कर्मणि कर्मान्तरं देहान्तरारम्भकारणमाविर्भवेत्ततोऽन्यदप्यदग्धबीजं कर्मान्तरं तद्वदेव प्रसज्येतेति ब्रह्मविद्यायाः पाक्षिकं मोक्षहेतुत्वमहेतुत्वं वाऽऽशङ्क्येत, न त्वियमाशङ्का युक्ता, ज्ञानात् कर्मबीजदाहस्य श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धत्वात्। तथा हि श्रुतिः—

'भिद्यन्ते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥' (मु० २।२।८) इति।

भाष्यका अनुवाद

नहीं कहे जाते, क्योंकि 'त एवैते' (ये वे ही हैं) इस प्रकार स्मृतिमें प्रसिद्धि है। जैसे सुलभा नामकी ब्रह्मवादिनीने जनकके साथ विवाद करनेकी इच्छासे अपने देहका त्याग कर जनकके देहमें प्रवेश करके उसके साथ विवाद करनेके पश्चात् अपने ही देहमें प्रवेश किया था, ऐसी स्मृति है। यदि एक बार प्रवृत्त हुए उपयुक्त कर्ममें अन्य देहकी उत्पत्तिके कारण अन्य कर्मका आविर्भाव हो तो अन्य भी जिसका बीज नहीं जला है, ऐसा कर्मान्तर उसी तरह प्रसक्त होगा। इससे ब्रह्मविद्या पाक्षिक मोक्षहेतु है, ऐसी आशंका होगी, परन्तु यह शंका युक्त नहीं है, क्योंकि ज्ञानसे कर्मबीजका दाह होता है यह श्रुति और स्मृतिमें प्रसिद्ध है। श्रुति देखिए—'भिद्यते हृदयग्रन्थि०' (कारणकार्यरूप परब्रह्मका साक्षात्कार होनेपर हृदयकी रागादि गांठ—अविद्यावासनासमूह—टूट जाती है और सब संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं,

रत्नप्रभा

स्वतन्त्रा निरभिमाना इति वैषम्यम्। तेन जनकेन सह व्युद्य विवादं कृत्वेत्यर्थः। विदुषः प्रारब्धातिरिक्तकर्माभावाद् न बन्धः, निमित्ताभावे नैमित्तिकाभाव इति न्यायानुगृहीतानां ज्ञानान्मुक्तिश्रुतीनां न स्तुतिमात्रत्वमितीममर्थमुपपादयति—यदि ह्युपयुक्ते इत्यादिना। श्रुतिस्मृत्युक्तार्थे युक्तिमप्याह—न चाऽविद्येति। विद्यया क्लेश-

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूर्व देह और नामके प्रत्यभिज्ञानसे रहित परतन्त्र, साभिमान पुरुष जातिस्मर कहलाते हैं। आधिकारिक तो पूर्व जन्मके नामवाले हैं, स्वतन्त्र और निरभिमान हैं, ऐसा जातिस्मर और आधिकारिकोंका भेद है। तेन—जनकके साथ, व्युद्य—विवाद करके, यह अर्थ है। प्रारब्धसे अतिरिक्त कर्मका अभाव होनेसे विद्वान्का बन्ध नहीं है, ऐसा अर्थ है। निमित्तके अभावमें नैमित्तिकका अभाव है। इस न्यायसे अनुगृहीत हुई ज्ञानसे मुक्तिका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियाँ केवल स्तुतिके लिए नहीं हैं इस अर्थका उपपादन करते हैं—"यदि ह्युप-

भाष्य

'स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः' (छा० ७ । २६ । २) इति चैवमाद्या । स्मृतिरपि—'यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ! ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ॥'
(भ० गी० ४ । ३७) इति ।

'बीजान्यग्न्युपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः ।
ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मा संपद्यते' पुनः ॥' इति चैवमाद्या ।

न चाऽविद्यादिक्लेशदाहे सति क्लेशबीजस्य कर्माशयस्यैकदेशदाह एकदेशप्ररोहश्चेत्युपपद्यते । नह्यग्निदग्धस्य शालिबीजस्यैकदेशप्ररोहो दृश्यते । प्रवृत्तफलस्य तु कर्माशयस्य मुक्तेषोरिव वेगक्षयान्निवृत्तिः । 'तस्य तावदेव

भाष्यका अनुवाद

द्रष्टाके सब कर्म क्षीण हो जाते हैं [संसार कारणका उच्छेद होनेसे वह मुक्त हो जाता है]) और 'स्मृतिलम्भे सर्व०' (स्मृति प्राप्त होनेपर सब राग आदि गांठोंका विनाश हो जाता है) इत्यादि । स्मृति भी है—'यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्०' (हे अर्जुन, जैसे भली भाँति प्रदीप्त हुई अग्नि लकड़ियोंको भस्म कर देती है, वैसे ही ज्ञानाग्नि—तत्त्वज्ञान सब कर्मोंको निर्बीज कर देती है) और 'बीजान्यग्न्युपदग्धानि०' (जैसे अग्निसे भुने गये बीज फिर नहीं उगते वैसे ही ज्ञानाग्निसे जले हुए क्लेशोंसे आत्मा—शरीर फिर उत्पन्न नहीं होता) इत्यादि । उसी प्रकार अविद्या आदि क्लेशोंका दाह होनेपर क्लेशके बीज कर्माशयके एकदेशका दाह हो और एकदेशका प्ररोह हो, यह नहीं हो सकता । परन्तु जिसका फल प्रवृत्त हो चुका है, ऐसे कर्माशयकी निवृत्तितो जैसे छोड़े हुए बाणकी निवृत्ति वेगका क्षय होनेसे होती है, वैसे होती है, क्योंकि 'तस्य

रत्नप्रभा

दाहात् तत्कार्यकर्मक्षयश्चेत्, तर्हि प्रारब्धस्य कथं स्थितिः, तत्राह—प्रवृत्तफलस्येति । विदुषो देहपातावधिश्रुतेरनुभवाच्च ज्ञानस्य आवरकाज्ञानांशनिवर्तकस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

युक्ते" इत्यादिसे । श्रुति और स्मृतिसे जो अर्थ कहा गया है उसमें युक्ति भी कहते हैं—"न चाऽविद्या" इत्यादिसे । विद्यासे क्लेशोंका दाह होनेपर उनका कार्य जो कर्म है, उसका क्षय हो, तो प्रारब्ध किस प्रकार रह सकता है ? इसपर कहते हैं—"प्रवृत्तफलस्य" इत्यादिसे । देहपाततक मोक्ष नहीं होता, ऐसा श्रवण होनेसे और अनुभवसे भी जाना जाता

भाष्य

चिरम्' (छा० ६ । १४ । २) इति शरीरपातावधिक्षेपकरणात् । तस्मादुपपन्ना यावदधिकारमाधिकारिकाणामवस्थितिः । न च ज्ञानफलस्याऽनैकान्तिकता । तथा च श्रुतिरविशेषेणैव सर्वेषां ज्ञानान्मोक्षं दर्शयति 'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्,' (बृ० १।४।१०) इति । ज्ञानान्तरेषु चैश्वर्यादिफलेष्वासक्ताः स्युर्महर्षयः, ते पश्चादैश्वर्यक्षयदर्शनेन निर्विण्णाः परमात्मज्ञाने परिनिष्ठाय कैवल्यं प्रापुरित्युपपद्यते—

'ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे ।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ॥' इति स्मरणात् ।

भाष्यका अनुवाद

तावदेव चिरम्०' (उसे तभी तक विलम्ब है) इस प्रकार शरीरपाततक विलम्ब कहा है । इसलिए अधिकार पर्यन्त आधिकारिकोंकी अवस्थिति उपपन्न है । और ज्ञानका फल अनियत नहीं है, क्योंकि 'तद्यो देवानां०' (उन देवताओंके मध्यमें जो जो प्रतिबुद्ध हुआ वही प्रतिबुद्ध आत्मा ब्रह्म हुआ, उसी प्रकार ऋषियों और मनुष्योंमें जो कोई ज्ञानी हुआ वह ब्रह्म हुआ) यह श्रुति समानरूपसे सबका ज्ञानसे मोक्ष दिखलाती है । परन्तु ऐश्वर्य आदि जिनका फल है, ऐसे अन्य ज्ञानोंमें महर्षि आसक्त हुए, तदनन्तर वे ऐश्वर्यका क्षय देखनेसे विरक्त हो परमात्माके ज्ञानमें परिनिष्ठित होकर मोक्षको प्राप्त हुए, यह उपपन्न होता है, क्योंकि 'ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते' (महाप्रलय प्राप्त होनेपर और परका—हिरण्यगर्भका अन्त होनेपर संस्कृत—शुद्ध अन्तःकरणवाले ज्ञानी ब्रह्मके साथ परम पदको प्राप्त करते हैं)

रत्नप्रभा

प्रारब्धविक्षेपस्थित्यनुकूलाज्ञानांशनिवर्तनसामर्थ्याभावसिद्धेर्भोगेनैव प्रारब्धक्षय इति भावः । ज्ञानिनामाधिकारिकत्वं कथमित्याशङ्क्य ज्ञानात् प्राक् कृतोपासनादिवशादित्याह—ज्ञानान्तरेषु चेति । प्रतिसञ्चरः—महाप्रलयः । परस्य—हिरण्यगर्भस्य,

रत्नप्रभाका अनुवाद

है कि ज्ञान आवरण करनेवाले अज्ञानांशका निवर्तक है, परन्तु प्रारब्ध कर्मका विक्षेप और स्थितिके अनुकूल जो अज्ञानांश है, उसको निवृत्त करनेमें ज्ञानकी सामर्थ्य नहीं है, ऐसा सिद्ध होनेसे भोगसे ही प्रारब्ध कर्मका क्षय होता है, यह भाव है । ज्ञानियोंमें आधिकारिकत्व किस प्रकार है ? ऐसी आशंका करके ज्ञानके पूर्वमें उनके द्वारा की गई उपासनासे उनको अधिकार प्राप्त होता है ऐसा कहते हैं—"ज्ञानान्तरेषु च" प्रतिसंचर—महाप्रलय । परस्य—

भाष्य

प्रत्यक्षफलत्वाच्च ज्ञानस्य फलविरहाशङ्कानुपपत्तिः। कर्मफले हि स्वर्गादावनुभवानारूढे स्यादाशङ्का—भवेद्वा न वेति, अनुभवारूढं तु ज्ञानफलम् 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' (बृ० ३।४।१) इति श्रुतेः, 'तत्त्वमसि' (६।८।७) इति च सिद्धवदुपदेशात्। नहि 'तत्त्वमसि' इत्यस्य वाक्यस्यार्थस्तत् त्वं मृतो भविष्यसीत्येवं परिणेतुं शक्यः। 'तद्धैतत् पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्च' (बृ० १।४।१०) इति च सम्यग्दर्शनकालमेव तत्फलं सर्वात्मत्वं दर्शयति। तस्मादैकान्तिकी विदुषः कैवल्यसिद्धिः॥ ३२॥

भाष्यका अनुवाद

ऐसी स्मृति है और ज्ञानका फल प्रत्यक्ष है अतः उसके फलके अभावकी आशंका नहीं हो सकती है। और कर्मका फल जो स्वर्गादि है वह अनुभवमें नहीं आता और उसमें—है या नहीं ? इस प्रकार शङ्का भी हो सकती है, परन्तु ज्ञानका फल तो अनुभवमें आरूढ हुआ है, क्योंकि 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' (जो ब्रह्म साक्षात् है—किसीसे भी व्यवहित नहीं है, द्रष्टाके प्रत्यक्ष होनेसे अगौण है) ऐसी श्रुति है और 'तत्त्वमसि' (वह तू है) इस प्रकार सिद्धवत् उपदेश है। 'तत्त्वमसि' इस वाक्यका अर्थ 'वह तू मृत होगा' ऐसा नहीं किया जा सकता। और 'तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः०' (उस ब्रह्मको देखते हुए ऋषि वामदेवने उस ब्रह्मको प्राप्त किया, मैं मनु हुआ और सूर्य हुआ—इत्यादि मन्त्रोंका, ब्रह्मदर्शन होनेपर, उसको ज्ञान हुआ) यह श्रुति तत्त्वज्ञान कालमें ही उसका फल जो सर्वात्मत्व है उसे दिखलाती है। इसलिए विद्वान्‌की कैवल्यसिद्धि नियत—नित्य है॥ ३२॥

रत्नप्रभा

अधिकारान्ते साक्षात्कृतात्मानो मुच्यन्ते इत्यर्थः। ब्रह्मभावफलस्याऽपि भावित्वमाशङ्क्य "तत्त्वमसि" इति श्रुतिबाधमाह—नहीति। तस्मात् निर्गुणविद्यायां मार्गानुपसंहार इति सिद्धम्॥ ३२॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

हिरण्यगर्भका। अधिकारके अन्तमें जिनको आत्माका साक्षात्कार हो गया है, वे मुक्त होते हैं, ऐसा अर्थ है। ब्रह्मसम्पत्तिरूप फलमें भी उत्पत्तिकी आशंका करके 'तत्त्वमसि' यह श्रुतिरूप बाध कहते हैं—" नहि" इत्यादिसे। इससे निर्गुणविद्यामें मार्गका अनुपसंहार है, यह सिद्ध हुआ॥ ३२॥

[२० अक्षरध्यधिकरण सू० ३३]

निषेधानामसंहारः संहारो वा न संहृतिः ।
आनन्दादिवदात्मत्वं नैषां संभाव्यते यतः ॥ १ ॥
श्रुतानामश्रुतानां च निषेधानां समा यतः ।
आत्मलक्षणता तस्माद् दार्ढ्यायास्तूपसंहृतिः ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—'अस्थूलम्' इत्यादि निषेधोंका उपसंहार है अथवा नहीं है ?

पूर्वपक्ष—उपसंहार नहीं है, क्योंकि वे आनन्द आदिके समान आत्मरूप नहीं हैं ।

सिद्धान्त—श्रुत और उपसंहृत निषेधोंकी आत्मस्वरूपता समान है, इस दृढ़ताके लिए निषेधोंका उपसंहार करना चाहिए ।

*भाव यह है कि 'अस्थूलम्' इत्यादिसे ब्रह्मके अवबोधके लिए गार्गीब्राह्मणमें कुछ निषेध सुने जाते हैं । वैसे कठवल्लीमें भी 'अशब्दमस्पर्शम्०' इत्यादि निषेध सुने जाते हैं । इसी तरह अन्यत्र भी उदाहृत हैं । उन निषेधोंके विषयमें पूर्वपक्षकर्ताकी यह राय है—उन निषेधोंका परस्पर उपसंहार नहीं होता है, क्योंकि आनन्द, सत्यत्व आदि धर्म जैसे ब्रह्मस्वरूप हैं, वैसे वे निषेध ब्रह्मस्वरूप नहीं हैं, अतः उनके उपसंहारका कोई फल नहीं है ।

सिद्धान्ती कहते हैं कि जैसे अपनी शाखामें श्रूयमाण निषेध आत्मस्वरूप नहीं है, तो भी आत्माके उपलक्षक हैं । वैसे अन्यशाखाओंमें उपसंहृत निषेध भी उसके समान ही उपलक्षक हैं । स्वशाखाओंमें उक्त निषेधोंसे ही उपलक्षणकी सिद्धि है, इतरोंका उपसंहार निष्प्रयोजन है, यह शंका युक्त नहीं है, क्योंकि दृढ़ताके लिए अन्य निषेधोंका उपसंहार होनेसे वह सप्रयोजन है । अन्यथा अपनी शाखामें भी दो तीन निषेधसे ही कार्य हो जानेपर इतरका वैयर्थ्य प्रसक्त होगा । इससे निषेधोंका उपसंहार करना चाहिए ।

अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम् ॥ ३३ ॥

पदच्छेद—अक्षरधियाम्, तु, अवरोधः, सामान्यतद्भावाभ्याम्, औपसदवत्, तत्, उक्तम् ।

पदार्थोक्ति—अक्षरधियाम्–अक्षरे ब्रह्मणि द्वैतनिषेधधियाम् [सर्वत्र निषेधश्रुतिषु] अवरोधः—उपसंहारः [युक्ततरः, कुतः ?] सामान्यतद्भावाभ्याम्—द्वैतनिरासेन ब्रह्मप्रतिपादनस्य सर्वत्र सामान्यम्—समानत्वम्, प्रतिपाद्यस्य तस्य ब्रह्मणः सर्वत्र भावः—एकत्वेन प्रत्यभिज्ञानत्वम्–ताभ्याम् हेतुभ्याम् [इत्यर्थः, तत्र दृष्टान्तं प्रवक्ति] औपसदवत्—यथा जामदग्न्ये अहीने पुरोडाशिनीषूपसत्सु चोदितानामौपसदानामध्वर्युकर्तृकपुरोडाशशेषाणां मन्त्राणां यत्र क्वचिच्छ्रुतानामप्यध्वर्युणा सम्बन्धः, तथाऽक्षरप्रमितिशेषाणां निषेधानां यत्र क्वचिच्छ्रुतानामप्यक्षरेण सर्वत्र सम्बन्ध इत्यर्थः । तदुक्तम्—जैमिनिना प्रथमे काण्डे—'गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोगः' इति ।

भाषार्थ—अक्षर—ब्रह्ममें द्वैतनिषेधबुद्धियोंका सब निषेधश्रुतियोंमें उपसंहार करना चाहिए, किससे ? सामान्य और तद्भाव हेतुओंसे अर्थात् द्वैतनिरसन द्वारा सब स्थलोंमें ब्रह्मप्रतिपादम समान है, और सर्वत्र प्रतिपाद्य उस ब्रह्मका भाव—एकरूपसे प्रत्यभिज्ञान भी है, अतः इन दो हेतुओंसे उपसंहार करना योग्य है । उसमें दृष्टान्त कहते हैं—औपसदवत्—जमदग्निसे किये गये अहीन—चार रात्रिमें सम्पन्न होनेवाले क्रतु—यज्ञमें पुरोडाशसाध्य इष्टियोंका विधान है, उसमें कथित अध्वर्युकर्तृक पुरोडाशके अङ्गभूत औपसदमन्त्रोंके कहींपर श्रुत होनेपर भी अध्वर्युके साथ ही संसर्ग है, अक्षर प्रमितिके शेषभूत निषोधोंका, वैसे जहाँ कहींपर श्रवण हो तो भी अक्षरके साथ सर्वत्र संसर्ग होता है, ऐसा अर्थ है, यही बात जैमिनिने 'गुणमुख्यव्यतिक्रमे' इत्यादि सूत्रमें कही है ।

भाष्य

वाजसनेयके श्रूयते—'एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहम्' (बृ० ३।८।८) इत्यादि। तथाऽऽथर्वणे श्रूयते—'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णम्' (मु० १।१।५) इत्यादि। तथैवाऽन्यत्रापि विशेषनिराकरणद्वारेणाऽक्षरं परं ब्रह्म श्राव्यते। तत्र च क्वचित् केचिदतिरिक्ता विशेषाः प्रतिषिध्यन्ते। तासां विशेषप्रतिषेधबुद्धीनां किं सर्वासां सर्वत्र प्राप्तिरुत

भाष्यका अनुवाद

वाजसनेयकमें—'एतद्वै तदक्षरम्' (हे गार्गि, जो तूने मुझसे पूछा है कि आकाश किसमें ओतप्रोत है, वह यह है, ब्रह्मवेत्ता उसको अक्षर कहते हैं वह अस्थूल, अनणु, अह्रस्व, अदीर्घ, अलोहित, अस्नेह है) उसी प्रकार आथर्वणमें भी श्रुति है—'अथ परा यया तदक्षर०' (अब परा विद्या कही जाती है जिससे वह अक्षर प्राप्त होता है वह अदृश्य [सब बुद्धीन्द्रियोंसे अगम्य], अग्राह्य [सब कर्मेन्द्रियोंका अविषय], मूलरहित एवं वर्णरहित अर्थात् स्थूलत्व, शुक्लत्व आदि द्रव्यधर्मोंसे रहित है) इत्यादि। इसी प्रकार अन्य स्थलमें भी विशेषके निराकरण द्वारा अक्षर परब्रह्मका श्रवण कराया जाता है। उनमें कहींपर कितने अतिरिक्त विशेषोंका प्रतिषेध होता है। उनमें सब प्रतिषेधबुद्धियोंकी सर्वत्र

रत्नप्रभा

अक्षरधियाम्०। अत्र अक्षरब्रह्मप्रमापका निषेधशब्दा विषयाः, तेषु यत्र यावन्तः श्रुताः, तत्र तावतामशेषद्वैतनिषेधकत्वसम्भवासंभवाभ्यां संशयमाह—तासामिति। यथा निर्गुणविद्यायां मार्गस्य अनपेक्षितत्वादनुपसंहारः, तथा श्रुतनिषेधानामुपलक्षणतया सर्वद्वैतनिषेधसम्भवात् शाखान्तरीयनिषेधशब्दानामनपेक्षितत्वादनुपसंहार इति दृष्टान्तेन पूर्वपक्षः, तत्र लाघवं फलम्, सिद्धान्ते तु दोषद्वयाभावः

रत्नप्रभाका अनुवाद

"अक्षरधियां त्ववरोधः०"। इस अधिकरणमें अक्षर ब्रह्मकी प्रमिति करानेवाले निषेधशब्द विषय हैं। उन श्रुतियोंमें जहांपर जितने निषेधोंका श्रवण है वे सम्पूर्ण द्वैतका निषेध कर सकते हैं या नहीं? इस प्रकार संभव और असम्भवसे संशय कहते हैं—"तासाम्" इत्यादिसे। जैसे निर्गुणविद्यामें मार्ग अनपेक्षित होनेसे उसका अनुपसंहार है, वैसे श्रुतिनिषेधोंके उपलक्षण होनेसे सम्पूर्ण द्वैतके निषेधका संभव होनेसे अन्य शाखाके निषेधशब्दोंकी अपेक्षा न होनेसे उनका अनुपसंहार है, ऐसा दृष्टान्तसंगतिसे पूर्वपक्ष करते हैं। पूर्वपक्षमें लाघव फल

भाष्य

व्यवस्थेति संशये श्रुतिविभागाद् व्यवस्थाप्राप्तावुच्यते—अक्षरविषयास्तु विशेषप्रतिषेधबुद्धयः सर्वाः सर्वत्राऽवरोद्धव्याः, सामान्यतद्भावाभ्याम्—समानो हि सर्वत्र विशेषनिराकरणरूपो ब्रह्मप्रतिपादनप्रकारः। तदेव च सर्वत्र प्रतिपाद्यं ब्रह्म अभिन्नं प्रत्यभिज्ञायते। तत्र किमित्यन्यत्र कृता बुद्धयोऽन्यत्र न स्युः। तथा च 'आनन्दादयः प्रधानस्य' (ब्र० सू० ३।३।११) इत्यत्र व्याख्यातम्। तत्र विधिरूपाणि विशेषणानि

भाष्यका अनुवाद

प्राप्ति है या व्यवस्था है, ऐसा संशय होनेपर श्रुतियोंके विभागसे निषेधशब्दोंकी तत्-तत् श्रुतिमें व्यवस्था है, ऐसा पूर्वपक्ष उपस्थित होनेपर कहा जाता है—अक्षरमें सब विशेषकी प्रतिषेधबुद्धियोंका सर्वत्र उपसंहार करना चाहिए, सामान्य और तद्भाव से, क्योंकि विशेष निराकरणरूप ब्रह्म प्रतिपादन प्रकार सर्वत्र समान है। और उसी प्रतिपाद्य ब्रह्मकी सर्वत्र अभिन्नरूपसे प्रत्यभिज्ञा होती है। उसमें एक जगहमें की गई बुद्धियाँ अन्यत्र क्यों न हों, उसी प्रकार 'आनन्दादयः प्रधानस्य' इस सूत्रमें व्याख्यान किया गया है। उसमें विधिरूप विशेषणोंका विचार किया गया है, और यहांपर निषेधरूप विशेषणोंका विचार किया जाता है।

रत्नप्रभा

फलम्। तथा हि यदि श्रुतशब्दैरश्रुतनिषेधाः लक्ष्यन्ते, तदा लक्षणादोषः, यदि न लक्ष्यन्ते, तदा सर्वद्वैतनिषेधासिद्धेर्निर्विशेषप्रमित्यभावदोष इति विवेकः। अक्षरे धर्मिणि द्वैतनिषेधधियः—अक्षरधियः, तद्धेतवः शब्दा इति यावत्, तासां अवरोधः—उपसंहार इति सूत्रयोजना। शेषिब्रह्मणः सर्वशाखासु भावात् तत्प्रमितेः समानत्वात् शेषाणामुपसंहार इति चेत्, तर्हि न्यायसाम्यात् पुनरुक्तितादवस्थ्यमित्यत आह—प्रपञ्चार्थ इति। आनन्दादीनां स्वरूपत्वात् अस्तूपसंहारः, निषेधा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

है। सिद्धान्तमें दोनों दोषोंका अभाव फल है, क्योंकि यदि श्रुत निषेधशब्दोंसे अश्रुत निषेध लक्ष्य हों, तो लक्षणादोष प्राप्त होगा, यदि लक्ष्य न हों, तो सर्वद्वैतका निषेध असिद्ध होनेसे निर्विशेषकी प्रमितिका—ज्ञानका अभावरूप दोष होगा, ऐसा पूर्वपक्ष और सिद्धान्तमें भेद है। 'अक्षरधियां त्ववरोधः'—इत्यादि सूत्रकी योजना इस प्रकार करनी चाहिए—अक्षर इस धर्मीमें द्वैतनिषेध बुद्धि अक्षरधी है, उसके हेतु शब्द। अक्षरमें द्वैतनिषेधबुद्धिके हेतु जो शब्द हैं उनका अवरोध अर्थात् उपसंहार है। शेषी—धर्मी—अंगी ब्रह्मका सब शाखाओंमें अस्तित्व होनेसे उसकी प्रमिति समान है, इसलिए शेषोंका—धर्मोंका उपसंहार है, ऐसा यदि हो, तो समानन्यायसे समान पुनरुक्ति है, इसपर कहते हैं—"प्रपञ्चार्थः" इत्यादिसे। स्वरूप होनेसे आनन्द आदिका उपसंहार भले ही हो, परन्तु

भाष्य

चिन्तितानीह प्रतिषेधरूपाणीति विशेषः । प्रपञ्चार्थश्चायं चिन्ताभेदः । औपसदवदिति निदर्शनम् । यथा जामदग्न्येऽहीने पुरोडाशिनीषूपसत्सु चोदितासु पुरोडाशप्रदानमन्त्राणाम् 'अग्नेर्वेर्होत्रं वेरध्वरम्'

भाष्यका अनुवाद

इतना इन दोनों अधिकरणोंमें अन्तर है, और यह पुनः किया जानेवाला विचार उसीके विस्तारके लिए है। 'औपसदके समान' यह दृष्टान्त है। जैसे जमदग्नि द्वारा किये गये अहीनमें (चार रात्रिमें पूर्ण होनेवाले यज्ञमें) पुरोडाशयुक्त इष्टियोंका उपदेश होनेपर 'अग्नेर्वेर्होत्रं वेरध्वरम्' (देवताओंका होत्र और अध्वरकर्म अग्निसे ही

रत्नप्रभा

नाम् अनात्मत्वात् आनन्त्याच्च अनुपसंहार इत्यधिकाशङ्कायां तेषामनात्मत्वेऽपि निर्विशेषब्रह्मप्रमित्यर्थत्वादविद्यातज्जनिषेधत्वेन संग्रहसिद्धेश्च निरपेक्षास्थूलानणुवाक्यस्थतया क्लृप्तनिषेधशब्दानामन्यत्र श्रुतिनिषेधवाक्यैकवाक्यतया उपसंहार इति चिन्ता युक्तेत्यर्थः । अन्यत्र श्रुतशेषाणाम् अन्यत्रस्थशेषिसम्बन्धे दृष्टान्तं व्याचष्टे—यथेति । 'जमदग्निः पुष्टिकामश्चतूरात्रेणायजत' इत्युपक्रम्य विहितो जमदग्निना कृतः जामदग्न्यः, अहीनः चतूरात्रः क्रतुः तस्मिन्, 'पुरोडाशिन्य उपसदो भवन्ति' इति पुरोडाशसाध्या इष्टयः तैत्तिरीयके विहिताः, तासामध्वर्युकर्तृकत्वात् सामवेदोत्पन्नमन्त्राणां तासु विनियोगादध्वर्युणैव प्रयोगः, नोद्गात्रेत्यर्थः । वेः-देवगणस्य होत्रम् अध्वरं च कर्म अग्नेस्त्वत्त एव इत्यग्न्यामन्त्रणमन्त्रार्थः । उत्पत्तिविधिर्गुणः,

रत्नप्रभाका अनुवाद

निषेध तो अनात्मस्वरूप हैं और अनन्त हैं, अतः उनका अनुपसंहार है, ऐसी अधिक शंका होनेपर वे अनात्मा हैं, तो भी निर्विशेष ब्रह्मकी प्रमिति उनका प्रयोजन होनेसे और अविद्या और उससे उत्पन्न हुए निषेधरूपसे संग्रहकी सिद्धि होनेसे निरपेक्ष, अस्थूलमनणु'—इस वाक्यमें स्थित क्लृप्त निषेधशब्दोंका अन्य श्रुतिके निषेधवाक्यके साथ एकवाक्यता होनेसे उपसंहार है, इसलिए विचार युक्त है, ऐसा अर्थ है। एक श्रुतिके अंगोंका अन्य श्रुतिके अंगीके साथ सम्बन्धमें दृष्टान्तका व्याख्यान करते हैं—"यथा" इत्यादिसे। पुष्टिकी कामनावाले जमदग्निने चतूरात्र यज्ञ किया, ऐसा उपक्रम करके विधान किया गया जमदग्नि द्वारा विहित होनेसे जामदग्न्य कहलानेवाला अहीन—चार रात्रियोंमें पूर्ण होनेवाला यज्ञ, उसमें 'पुरोडाशिन्य०' इससे पुरोडाशसाध्य इष्टियोंका तैत्तिरीयकमें विधान है। इन इष्टियोंका कर्ता अध्वर्यु है, अतः सामवेदमें उत्पन्न हुए मन्त्रोंका इन इष्टियोंमें विनियोग होनेसे अध्वर्युसे ही उनका प्रयोग करना चाहिए, उद्गातासे नहीं, ऐसा अर्थ है। 'अग्नेर्वेः'—'वेः'—देवगणका। हे 'अग्नि। देवगणका होत्र अध्वर कर्म, तुझसे ही है' यह अग्निका जिसमें आमन्त्रण है, उस मन्त्रका अर्थ है। उत्पत्ति-

भाष्य

इत्येवमादीनामुद्गातृवेदोत्पन्नानामप्यध्वर्युभिरभिसम्बन्धो भवति, अध्वर्युकर्तृकत्वात् पुरोडाशप्रदानस्य, प्रधानतन्त्रत्वाच्चाऽङ्गानाम् । एवमिहाप्यक्षरतन्त्रत्वात्तद्विशेषणानां यत्र क्वचिदप्युत्पन्नानामक्षरेण सर्वत्राऽभिसम्बन्ध इत्यर्थः । तदुक्तं प्रथमे काण्डे—'गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोगः (जै० सू० ३।३।८) इत्यत्र ॥ ३३ ॥

भाष्यका अनुवाद

है) इत्यादि पुरोडाश देनेके मन्त्र जो उद्गातृके वेदमें उत्पन्न हुए हैं, उनका भी अध्वर्युके साथ सम्बन्ध होता है, क्योंकि पुरोडाश प्रदानका अध्वर्यु कर्त्ता है और अंग प्रधानके अधीन हैं। वैसे ही यहांपर भी अक्षरके विशेषणोंके अक्षराधीन होनेसे जो कहीं भी उत्पन्न हुआ है, उसका सर्वत्र अक्षरके साथ सम्बन्ध है, ऐसा अर्थ है, वह प्रथम काण्डमें 'गुणमुख्यव्यतिक्रमे०' (गुण और मुख्यका विरोध होनेपर मन्त्रात्मक वेदका मुख्य, बलवत्तर, अध्वर्युके साथ संप्रयोग है, उत्पत्ति विनियोगके अर्थ होनेसे) कहा गया है ॥३३॥

रत्नप्रभा

फलापेक्षत्वात् । उत्पन्नस्य फले विनियोगविधिर्मुख्यः, सफलत्वात् । तथा च मन्त्राणामुद्गातृवेदोत्पन्नत्वादुद्गात्रा प्रयोगः विनियोगविधिनाऽध्वर्युणा प्रयोग इति गुणमुख्ययोर्व्यतिक्रमे—विरोधे सति मुख्येन—बलीयसा मन्त्रात्मकवेदस्य अध्वर्युणा संप्रयोगः उत्पत्तेः विनियोगार्थत्वादिति जैमिनिसूत्रार्थः । यद्यपि शाबरभाष्ये वारवन्तीयादिसाम्नामुच्चैस्स्वरकसामवेदोत्पन्नत्वादाधानाङ्गत्वेन उच्चैस्स्वरप्रयोगः 'य एवं विद्वान् वारवन्तीयं गायति यज्ञायज्ञीयं गायति वामदेव्यं गायति' इत्याधाने तेषां विनियोगविधिना याजुषेण याजुषस्योपांशुस्वरस्य प्रयोग इति गुणमुख्ययोर्विरोधे सति उत्पत्तेर्विनियोगार्थत्वान्मुख्यविनियोगबलेन साम्नां यजुर्वेदस्वरसंयोग इति सूत्रं व्याख्यातम्, तथापि न्यायसाम्यादौपसदमन्त्राः सूत्रविषयत्वेनोदाहृता इत्यविरोधः ॥३३॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

विधि गुण है, क्योंकि इसको फलकी अपेक्षा है। उत्पन्नके फलमें विनियोगविधि मुख्य है, सफल होनेसे, अब मन्त्रोंका उद्गातृके वेदमें—सामवेदमें उत्पन्न होनेसे उद्गातासे प्रयोग हो और विनियोगविधिसे अध्वर्युसे प्रयोग हो, ऐसा गुण और मुख्यका व्यतिक्रम अर्थात् विरोध होनेपर मुख्य अर्थात् बलवत्तर अध्वर्युके साथ मन्त्रात्मक वेदका संप्रयोग है, क्योंकि उत्पत्ति विनियोगके लिए है, ऐसा जैमिनिके सूत्रका अर्थ है। वारवन्तीय आदि सामोंका उच्च स्वरवाले सामवेदमें उत्पन्न होनेसे आधानके अंगरूपसे उच्चैःस्वरका प्रयोग है, और 'य एवं विद्वान् वारवन्तीयं गायति०' इस आधानमें इन सामोंका याजुष विनियोगविधिसे यजुर्वेदके उपांशु स्वरका प्रयोग है, ऐसा गुण और मुख्यका विरोध होनेपर उत्पत्तिके विनियोगार्थक होनेसे मुख्य विनियोगबलसे सामोंका यजुर्वेदस्वरसंयोग है, यद्यपि इस सूत्रका ऐसा व्याख्यान शाबरभाष्यमें किया गया है, तथापि समानन्यायसे औपसद मन्त्रोंका सूत्रोंके विषयरूपसे उदाहरण है, अतः कोई विरोध नहीं है ॥३३॥

[२१ इयदधिकरण सू० ३४]

पिबन्तौ द्वा सुपर्णेति द्वे विद्ये अथवैकता ।
भोक्तारौ भोक्त्रभोक्तारावित विद्ये उभे इमे ॥ १ ॥
पिबन्तौ भोक्त्रभोक्तारावित्युक्तं हि समन्वये ।
*इयत्ताप्रत्यभिज्ञानाद्विद्यैका मन्त्रयोर्द्वयोः * ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—'ऋतं पिबन्तौ' 'द्वा सुपर्णा' इत्यादिसे दो विद्याएँ प्रतीत होती हैं अथवा एक प्रतीत होती है ?

पूर्वपक्ष—एक श्रुतिमें दोनों भोक्ताओंकी दूसरी श्रुतिमें एक भोक्ता और एक अभोक्ताकी प्रतीति होनेसे दो विद्याएँ हैं ।

सिद्धान्त—समन्वयमें 'पिबन्तौ' इस शब्दका अर्थ भोक्ता और अभोक्ता किया गया है, और भोक्ताका दोनोंमें प्रत्यभिज्ञान होता है, इसलिए दोनों मन्त्रोंमें एक ही विद्या है ।

इयदामननात् ॥ ३४ ॥

पदार्थोक्ति—['द्वा सुपर्णा सयुजा' तथा 'ऋतं पिबन्तौ' इत्यनयोर्मन्त्रयोर्न विद्याभेदः, कुतः ?] इयदामननात्–इयतः—परिच्छिन्नस्य द्वित्वावच्छिन्नस्य उभयत्रापि भेदविघटनद्वारा आमननात्—कथनात् इत्यर्थः ।

भाषार्थ—'द्वा सुपर्णा' और 'ऋतं पिबन्तौ' इन दो मन्त्रोंमें विद्याका भेद नहीं है, क्योंकि द्वित्वावच्छिन्नका दोनोंमें भेदके निराससे प्रतिपादन है ।

---

* भाव यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके' इस मन्त्रमें द्विवचनसे दोनोंमें भोक्तृत्वकी प्रतीति होती है । और 'द्वा सुपर्णा' इस मन्त्रमें तथा 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इसमें कर्मफल-भोक्तृत्वकी और अन्यमें 'अनश्नन्' इत्यादिसे अभोक्तृत्वकी प्रतीति होती है, इससे यह ज्ञात होता है कि वेद्यके स्वरूपका भेद होनेसे विद्याका भी भेद है ।

सिद्धान्ती कहते हैं कि ब्रह्मसूत्रके प्रथमाध्यायके द्वितीय पादके तृतीय अधिकरणमें 'पिबन्तौ' इस शब्दको जीव और ब्रह्मपरक मानकर उसका अर्थ भोक्ता और अभोक्ता, ऐसा किया गया है, इसलिए वेद्यका भेद नहीं है, इयत्ता–द्वित्व संख्या तो दोनों जगहमें प्रतीत होती है, इसलिए एक ही विद्या है, ऐसा समझना चाहिए ।

भाष्य

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥'

(मु० ३।१।१) इत्यध्यात्माधिकारे मन्त्रमाथर्वणिकाः श्वेताश्वतराश्च पठन्ति । तथा कठाः—

'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे ।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥'

(क० ३।१) इति । किमत्र विद्यैकत्वमुत विद्यानानात्वमिति संशयः । किं तावत् प्राप्तम् ? विद्यानानात्वमिति । कुतः ? विशेषदर्शनात् । द्वा सुप-

भाष्यका अनुवाद

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (सुन्दर पंखवाले—नियम्यनियामक भाववाले सर्वदा साथ ही रहने वाले सखा—समान आख्यानवाले दो पक्षी शरीर नामक समान वृक्षमें रहते हैं, उनमेंसे एक—क्षेत्रज्ञ स्वादयुक्त फलोंका—सुख-दुःख लक्षण कर्मजन्य फलोंका भोग करता है, दूसरा—नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव ईश्वर उनका भोग न करता हुआ जीवाख्य पक्षीको भोगनेके लिए प्रेरित करता है) इस प्रकार अध्यात्मके अधिकारमें आथर्वणिक और श्वेताश्वतर पढ़ते हैं। इसी प्रकार कठ—'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके०' (इस शरीरमें स्वतः किये गये कर्मोंसे होनेवाले कर्मफलोंको स्वतः भोगनेवाले दोनों बुद्धिरूप गुहामें—परम ब्रह्म स्थानमें प्रविष्ट हुए छाया और आतपके समान विलक्षण हैं, ऐसा दो ब्रह्मवेत्ता त्रिणाचिकेत और पंचाग्निवाले कहते हैं) ऐसा कहते हैं। यहांपर विद्या एक है या नाना हैं, ऐसा संशय होता है । तब क्या प्राप्त होता है ?

पूर्वपक्षी—विद्याएँ नाना हैं, ऐसा प्राप्त होता है, किससे ? विशेषके दर्शनसे,

---

रत्नप्रभा

इयदामननात् । मन्त्रद्वयेऽपि प्रतिपादनप्रकारभेदात् ज्ञेयैक्यभानाच्च संशयमाह—**किमत्रेति** । ऋतपानवाक्ये 'अक्षरं ब्रह्म यत्परम्' (कठ० १।३।२) इति गुणाः श्रुताः, सुपर्णवाक्येऽनश्नत्वादयः तेषां मिथोऽनुपसंहार इति पूर्वपक्ष-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"इयदामननात्" इति । दोनों मन्त्रोंमें प्रतिपादन करनेका प्रकार भिन्न है और ज्ञेयके ऐक्यका भान होता है, इसलिए संशय कहते हैं—"किमत्र" इत्यादिसे । ऋतपानवाक्यमें 'अक्षरं ब्रह्म यत्परम्' (जो परम अक्षर ब्रह्म है) इन गुणोंका श्रवण है और सुपर्ण-वाक्यमें अनश्नत्व—अनुपभोग आदि धर्म हैं । इन धर्मोंका परस्पर अनुपसंहार पूर्वपक्षका फल

भाष्य

र्णेत्यत्र ह्येकस्य भोक्तृत्वं दृश्यते, एकस्य चाऽभोक्तृत्वं दृश्यते। ऋतं पिबन्तावित्यत्रोभयोरपि भोक्तृत्वमेव दृश्यते, तद्वेद्यं रूपं भिद्यमानं विद्यां भिन्द्यादिति।

एवं प्राप्ते ब्रवीति—विद्यैकत्वमिति। कुतः? यत उभयोरप्यनयोर्मन्त्रयोरियत्तापरिच्छिन्नं द्वित्वोपेतं वेद्यरूपमभिन्नमामनन्ति। ननु दर्शितो रूपभेदः, नेत्युच्यते, उभावप्येतौ मन्त्रौ जीवद्वितीयमीश्वरं प्रतिपादयतः, नार्थान्तरम्। 'द्वा सुपर्णा' इत्यत्र तावत् 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' इत्यशनायाद्यतीतः परमात्मा प्रतिपाद्यते। वाक्यशेषेऽपि च स एव प्रतिपाद्यमानो दृश्यते, 'जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानम्' (श्वे० ४।७) इति। 'ऋतं पिबन्तौ' इत्यत्र तु जीवे पिबत्यशनायाद्यतीतः परमा-

भाष्यका अनुवाद

क्योंकि 'द्वा सुपर्णा' इसमें एक भोक्ता और दूसरा अभोक्ता दिखाई देता है। 'ऋतं पिबन्तौ' इसमें दोनों भोक्ता ही दिखाई देते हैं। इसलिए भिन्न होता हुआ वेद्यका स्वरूप विद्याको भिन्न करेगा।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं कि विद्या एक है। किससे? इससे कि इन दोनों मन्त्रोंमें इयत्तासे परिच्छिन्न—द्वित्वसे युक्त वेद्यरूप अभिन्न ही है, ऐसा श्रुतियां कहती हैं। परन्तु रूपभेद दिखलाया है। हम कहते हैं कि नहीं, ये दोनों मन्त्र जीवद्वितीय ईश्वरका प्रतिपादन करते हैं, अन्य अर्थका प्रतिपादन नहीं करते हैं। इस मन्त्रमें 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' इससे बुभुक्षा आदिसे अतीत परमात्माका प्रतिपादन होता है और वाक्यशेषमें भी 'जुष्टं यदा पश्यत्यन्य०' (जब अनेक योगमार्गोंसे सेवित समर्थ परमात्माको और उसकी महिमाको जानता है, तब शोकरहित होता है) उसीका प्रतिपादन देखा जाता है। 'ऋतं पिबन्तौ' इसमें तो जीवके पान करनेपर बुभुक्षा आदिसे अतीत

रत्नप्रभा

फलम्, सिद्धान्ते तूपसंहारे ब्रह्मस्वरूपवाक्यार्थैक्यादुपसंहार इति विवेकः। अस्तु वेद्यैक्याद् अक्षरधियामुपसंहारः, इह तु वेद्यभेदान्नोपसंहार इति प्रत्युदाहरणेन

रत्नप्रभाका अनुवाद

है। सिद्धान्तमें धर्मोंका उपसंहार माननेपर ब्रह्मस्वरूप प्रतिपादन करनेवाले वाक्योंका एक अर्थ होनेसे उपसंहार है, ऐसा पूर्वपक्ष और सिद्धान्तमें भेद है। विद्याके एक होनेसे अक्षरबुद्धि—अक्षरमें—ब्रह्ममें द्वैतनिषेध बुद्धि करनेवाले शब्दोंका उपसंहार हो, [पूर्व अधिकरणमें] यहाँ तो वेद्यका भेद होनेसे एकत्र भोक्ता और अभोक्ता ये दो वेद्य हैं और अन्यत्र दोनों भोक्ता ही वेद्य हैं, इसलिए वेद्योंके भिन्न होनेसे उपसंहार नहीं है, ऐसा प्रत्युदाहरणसे पूर्व-

भाष्य

त्मापि साहचर्याच्छत्रिन्यायेन पिबतीत्युपचर्यते। परमात्मप्रकरणं ह्येतत् 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्' (क० २।१४) इत्युपक्रमात्, तद्विषय एव चात्रापि वाक्यशेषो भवति 'यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम्' (क० ३।२) इति। 'गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि' (ब्र० सू० १।२।११) इत्यत्र चैतत् प्रपञ्चितम्। तस्मान्नास्ति वेद्यभेदः, तस्माच्च विद्यैकत्वम्। अपि च त्रिष्वप्येतेषु वेदान्तेषु पौर्वापर्यालोचने परमात्मविद्यैवाऽवगम्यते तादात्म्यविवक्षयैव

भाष्यका अनुवाद

परमात्मा भी साहचर्य होनेसे छत्रिन्यायसे पान करता है, ऐसा उपचार होता है, क्योंकि 'अन्यत्र धर्मा०' (शास्त्रीय धर्मानुष्ठानसे, उसके फल और कारणोंसे भिन्न है और अधर्मसे भिन्न है) ऐसा उपक्रम होनेसे यह परमात्माका प्रकरण है। आथर्वणिक आदि वाक्यके समान यहांपर भी 'यः सेतुरीजानानामक्षरम्०' (यजमानोंका—कर्म करनेवालोंका जो सेतु जैसा सेतु है, जो अक्षर परम ब्रह्म है) यह वाक्यशेष परमात्मविषयक ही है। 'गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि०' इस सूत्रमें इस विषयका सविस्तार विचार किया गया है। इससे सिद्ध हुआ कि वेद्यका भेद नहीं है और इसीसे विद्या एक है। और पूर्वापर सम्बन्धका पर्यालोचन करनेपर इन तीनों अर्थात् आथर्वणिक, श्वेताश्वतर और काठक वेदान्तोंमें परमात्मविद्या

रत्नप्रभा

पूर्वपक्षः। नन्वयं गुहाधिकरणे निरस्त इति चेत्, सत्यम्, किन्तु पिबत्पदस्य मुख्यार्थत्वाय स्वतः कल्पनया च पानकृत्याश्रयौ बुद्धिजीवौ पिबन्तौ ग्राह्यौ, सुपर्णौ तु जीवेश्वरावित्यधिकाशङ्कायां मन्त्रद्वयेऽपि द्विवचनशब्दसाम्यादौत्पत्तिकद्वित्वविशिष्टतया तुल्यवस्तुद्वयप्रत्यभिज्ञानस्य बाधकाभावात् प्रकरणाद्यनुग्रहाच्च जीवा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

पक्ष खड़ा होता है। परन्तु इस पूर्वपक्षका गुहाधिकरणमें खण्डन किया जा चुका है, ऐसी जो शंका करें, तो यह सत्य है, परन्तु 'पिबन्तौ' में 'पिबत्' पदका मुख्य अर्थ लिया जानेसे और स्वतः और कल्पनासे भी पानक्रियाके आश्रय बुद्धि और जीवको पानकर्तारूपसे लेना चाहिए और 'सुपर्णौ' ये तो जीव और ईश्वर हैं, ऐसी अधिक आशंका होनेपर दोनों मन्त्रोंमें द्वित्वसंख्याके साम्यसे और दोनोंमें औत्पत्तिक द्वित्वसंख्याके योगसे तुल्य दो वस्तुओंके प्रत्यभिज्ञानका बाध न होनेके कारण तथा प्रकरण आदिके अनुग्रहसे।

भाष्य

जीवोपादानम् , नार्थान्तरविवक्षया । न च परमात्मविद्यायां भेदाभेदविचारावतारोऽस्तीत्युक्तम् । तस्मात् प्रपञ्चार्थ एवैष योगः । तस्माच्चाधिकधर्मोपसंहार इति ॥ ३४ ॥

भाष्यका अनुवाद

ही समझी जाती है और जीवका ग्रहण तादात्म्यकी विवक्षासे ही है, अन्य अर्थकी विवक्षासे नहीं है । इसी प्रकार परमात्मविद्यामें भेद या अभेदके विचारकी गुंजायश नहीं है, ऐसा कहा जा चुका है । इसलिए यह सूत्र विस्तारके लिए ही है और इसीसे अधिक धर्मोंका उपसंहार है ॥३४॥

रत्नप्रभा

नुवादेनासंसारिब्रह्मणि मन्त्रद्वयतात्पर्यमिति प्रपञ्चार्थमिदं सूत्रमिति भावः ॥३४॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

जीवके अनुवादसे असंसारी ब्रह्ममें दोनों मन्त्रोंका तात्पर्य है । इसलिए प्रपञ्चके लिए यह सूत्र है, ऐसा भाव है ॥ ३४ ॥



[२२ अन्तराधिकरण सू० ३५–३६]

विद्याभेदोऽथ विद्यैक्यं स्यादुषस्तकहोलयोः।
समानस्य द्विराम्नानाद्विद्याभेदः प्रतीयते ॥ १ ॥
सर्वान्तरत्वमुभयोरस्ति विद्यैकता ततः।
शंकाविशेषनुत्यै द्विः पाठस्तत्त्वमसीतिवत् * ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—उषस्त और कहोल ब्राह्मणमें विद्याका भेद है या एक विद्या है।

पूर्वपक्ष—तुल्य वस्तुके दो बार कथनसे विद्याभेद प्रतीत होता है।

सिद्धान्त—दोनों ब्राह्मणोंमें सर्वान्तरत्वके होनेसे एक विद्या है। शङ्काविशेषकी निवृत्तिके लिए 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यके समान दो बार पाठ किया है, अतः पुनरुक्ति नहीं है।

अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनः ॥ ३५ ॥

पदच्छेद—अन्तरा, भूतग्रामवत्, स्वात्मनः।

पदार्थोक्ति—[पूर्वस्मात् सूत्राद् आमननादित्येकदेशस्यात्रानुवृत्तिर्विधेया, तथा च 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' 'य आत्मा सर्वान्तरः' इति ब्राह्मणद्वयेऽपि] स्वात्मनः—स्वप्राज्ञस्य अन्तरामननात्—सर्वान्तरामननात् [विद्यैक्यं विज्ञेयम्, तत्र निदर्शनमाह]—भूतग्रामवत्—यथा 'एको देवः' इत्यादिश्रुत्यन्तरे सर्वेषु भूतग्रामेषु सर्वान्तरः एकैवात्माऽऽम्नायते तद्वदनयोरित्यर्थः।

भाषार्थ—इस सूत्रमें पूर्वसूत्रसे 'आमननात्' इसकी अनुवृत्ति करनी चाहिए, इसलिए 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' 'य आत्मा सर्वान्तरः' इन दोनों ब्राह्मणोंमें भी स्वात्माके सर्वान्तरत्वका कथन है, इससे एक ही उपासना है, ऐसा समझना चाहिए। उसमें दृष्टान्त कहते हैं—भूतग्रामवत्—'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' इत्यादि अन्य श्रुतिमें सम्पूर्ण भूतसमूहमें सर्वान्तर एक ही आत्मा उक्त है, वैसे प्रकृतमें भी जानना चाहिए, ऐसा अर्थ है।

* भाव यह है कि 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' 'य आत्मा सर्वान्तरः' इस प्रकार एक ही शाखामें उषस्त और कहोल ब्राह्मणमें पढ़ा गया है। अपरोक्षात्, इसमें विभक्तिके व्यत्याससे 'अपरोक्ष' ऐसा अर्थ है। उन दोनों ब्राह्मणोंमें समानरूपसे पठित वाक्यकी पुनरुक्तिके परिहारके लिए विद्याका भेद मानना चाहिए।

भाष्य

'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' 'य आत्मा सर्वान्तरः' (बृ० ३।४।१-३।५।१) इत्येवं द्विरुषस्तकहोलप्रश्नयोर्नैरन्तर्येण वाजसनेयिनः समामनन्ति। तत्र संशयः—विद्यैकत्वं वा स्याद्विद्यानानात्वं वेति। विद्यानानात्वमिति तावत् प्राप्तम्; अभ्याससामर्थ्यात्। अन्यथा ह्यन्यूनानतिरिक्तार्थे द्विराम्नानमनर्थकमेव स्यात्। तस्मात् यथाऽभ्यासात् कर्मभेद एवमभ्यासात् विद्याभेद इति।

भाष्यका अनुवाद

'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म०' (जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है, जो प्रत्यगात्मा और सबका आभ्यन्तर है) इस प्रकार दो बार उषस्त और कहोलके प्रश्नोंमें नैरन्तर्यसे वाजसनेयी श्रवण कराते हैं। यहांपर संशय होता है कि विद्या एक है या अनेक ?

पूर्वपक्षी—विद्याएँ अनेक हैं, ऐसा प्राप्त होता है, किससे अभ्यास—पुनरुक्तिके सामर्थ्यसे, क्योंकि यदि ऐसा न हो, तो न्यूनतासे और आधिक्यसे रहित अर्थके विषयमें दो बार कथन निरर्थक हो जायगा। इसलिए जैसे 'यजति' पदके अभ्याससे कर्मभेद होता है, वैसे ही अभ्याससे विद्याका भेद सिद्ध होता है।

रत्नप्रभा

अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मन इति। घटादिकं चिद्विषयत्वेनाऽपरोक्षम्, ब्रह्म तु साक्षादविषयत्वेनापरोक्षम् इति, प्रथमार्थे पञ्चमी। अत्र श्रुतावात्मधर्मोऽपरोक्षत्वं ब्रह्मण्युक्तम्, ब्रह्मधर्मः सर्वान्तरत्वमात्मन्युक्तम्, तेन तयोरैक्यं दृढीकृतं मन्तव्यम्।

रत्नप्रभाका अनुवाद

"अन्तरा भूतग्रामवत् स्वात्मनः" इति। घट आदि चिद्विषय होनेसे अपरोक्ष हैं। ब्रह्म तो साक्षात् अविषय होनेसे अपरोक्ष है। 'अपरोक्षात्' यहाँपर पंचमी प्रथमाके अर्थमें है—इस श्रुतिमें आत्माका अपरोक्षत्व धर्म ब्रह्ममें कहा गया है और ब्रह्मका सर्वान्तरत्व धर्म आत्मामें—जीवमें कहा गया है, इससे आत्मा और ब्रह्म—इन दोनोंका ऐक्य दृढ किया गया समझना चाहिए।

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं कि दोनों ब्राह्मणोंमें सर्वान्तरत्वका प्रतिपादन होता है, और वह एक ही वस्तुमें उपपन्न हो सकता है। दो वस्तुओंमें एकका बहिर्भाव अवश्यम्भावी है, इससे वेद्यरूप सर्वान्तरके एक होनेके कारण विद्याका भेद नहीं है। पुनरुक्ति भी नहीं है, क्योंकि जैसे अन्य शाखामें शङ्काविशेषकी निवृत्तिके लिए 'तत्त्वमसि' इस वाक्यका नौ बार उपन्यास किया गया है, वैसे यहाँ भी उपपन्न हो सकता है। उषस्तब्राह्मणसे देहमें आत्मत्वकी शङ्का निवृत्त होती है, और कहोलब्राह्मणसे देहादिसे व्यतिरिक्त वस्तुमें ब्रह्मत्वका आपादन होता है, क्योंकि वाक्यके शेषमें उस प्रकार ज्ञात होता है। इससे एक ही विद्या है, ऐसा जानना चाहिए।

भाष्य

एवं प्राप्ते प्रत्याह—अन्तराऽऽम्नानाविशेषात् स्वात्मनो विद्यैकत्वमिति। सर्वान्तरो हि स्वात्मोभयत्राप्यविशिष्टः पृच्छ्यते च प्रत्युच्यते च। नहि द्वावात्मानावेकस्मिन् देहे सर्वान्तरौ सम्भवतः, तदा ह्येकस्याञ्जसं सर्वान्तरत्वमवकल्प्येत, एकस्य तु भूतग्रामवन्नैव सर्वान्तरत्वं स्यात्। यथा च पञ्चभूतसमूहे देहे पृथिव्या आपोऽन्तरा अद्भ्यस्तेजोऽन्तरमिति सत्यप्यापेक्षिकेऽन्तरत्वे नैव मुख्यं सर्वान्तरत्वं भवति तथेहापीत्यर्थः। अथवा भूतग्रामवदिति श्रुत्यन्तरं निदर्शयति, यथा—'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः

भाष्यका अनुवाद

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर निराकरण करते हैं आत्मा आन्तर है, यह दोनों श्रुतियोंमें समानरूपसे कहा गया है, इससे विद्याकी एकता समानरूपसे ज्ञात होती है, क्योंकि सबके अभ्यन्तर स्वात्माके विषयमें दोनों स्थलोंपर समानरूपसे प्रश्न और उत्तर है। एक देहमें सर्वान्तर दो आत्माओंका रहना संभव नहीं है। एक शरीरमें दो सर्वान्तर हैं, ऐसा यदि कहा जाय, तो एक वास्तविक सर्वान्तर उपपन्न होगा, दूसरा तो भूतसमूहके समान किसी समय सर्वान्तर नहीं होगा। जैसे पंचभूतोंके समूह देहमें पृथिवीसे जल अभ्यन्तर है, जलसे तेज अन्तर है, इस प्रकार यद्यपि अपेक्षासे अन्तरत्व है, तो भी उनमें मुख्य सर्वान्तरत्व नहीं है, वैसे ही यहां भी समझना चाहिए, ऐसा अर्थ है। अथवा 'भूतसमूहके समान' इस प्रकार अन्य श्रुतिका निदर्शन करते हैं। जैसे 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः०' (अद्वितीय, द्योतनस्वभाव, सब प्राणियोंमें गूढ,

---

रत्नप्रभा

'तं मे व्याचक्ष्व' (बृ० ३।४।१) इत्युषस्तप्रश्ने याज्ञवल्क्येन प्राणादिप्रेरको दृष्ट्यादिसाक्षी प्रतिपादितः। तथैव 'यदेव साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तन्मे व्याचक्ष्व' (बृ० ३।४।२) इति कहोलप्रश्नेऽशनायाद्यतीतः प्रतिपादितः। तत्र ब्राह्मणद्वयेऽपि प्रश्नाद्यभ्यासात् सर्वान्तरत्वप्रत्यभिज्ञानात् च संशये

रत्नप्रभाका अनुवाद

'तन्मे व्याचक्ष्व' इस उषस्तके प्रश्नके उत्तरमें याज्ञवल्क्यने प्राण आदिका प्रेरक और दृष्टि आदिका साक्षी आत्मा है, ऐसा प्रतिपादन किया है। उसी प्रकार 'यदेव साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' इस कहोलके प्रश्नके उत्तरमें ब्रह्म अशनाया—बुभुक्षा आदिसे रहित है, ऐसा प्रतिपादन किया है। उन दोनों ब्राह्मणोंमें प्रश्न आदिके अभ्याससे और सर्वान्तरत्वके प्रतिपादनसे विद्या एक है या भिन्न हैं, ऐसा संशय होनेपर पूर्व अधिकरणमें तो मन्त्रोंमें वेद्यके एक होनेसे विद्याका

भाष्य

सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' (श्वे० ६।११) इत्यस्मिन् मन्त्रे समस्तेषु भूतग्रामेष्वेक एव सर्वान्तर आत्माऽऽम्नायते, एवमनयोरपि ब्राह्मणयोरित्यर्थः। तस्माद्वेद्यैक्याद्विद्यैकत्वमिति ॥ ३५ ॥

भाष्यका अनुवाद

सर्वव्यापी, सब भूतोंका अन्तरात्मा—स्वरूपभूत है) इस मन्त्रमें समस्त प्राणिसमूहमें एक ही सर्वान्तर आत्माका कथन है, इसी प्रकार इन दोनों ब्राह्मणोंमें भी कहा गया है, ऐसा अर्थ है। इससे उक्त दोनों ब्राह्मणोंमें दो आत्माओंका सर्वान्तरत्व न होनेसे वेद्यके एक होनेसे विद्याका एकत्व है ॥ ३५ ॥

रत्नप्रभा

मन्त्रयोर्वेद्यैक्यादस्तु विद्यैक्यम्, इह तु ब्राह्मणयोर्वेद्यैक्येऽपि अभ्यासात् विद्याभेदः 'यजत्यभ्यासात् प्रयाजभेदवद्' इति प्रत्युदाहरणेन पूर्वपक्षः। तत्र मिथो धर्मानुपसंहारः फलम्, सिद्धान्ते तूपसंहार इति विवेकः। द्वयोः सर्वान्तरत्वानुपपत्त्या तावद् ब्राह्मणयोरेकवस्तुपरत्वं सिद्धम्। तथा च वेद्यैक्यात् निर्गुणविद्यैक्ये न विवादः ॥ ३५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐक्य भले ही हो परन्तु यहाँ ब्राह्मणोंमें तो वेद्यके एक होनेपर भी अभ्यास होनेसे जैसे यजतिके अभ्याससे प्रयाजका भेद है, वैसे ही विद्याका भेद है, इस प्रकार प्रत्युदाहरणसे पूर्वपक्ष है। पूर्वपक्षमें परस्पर धर्मोंका अनुपसंहार फल है तथा सिद्धान्तमें तो इन धर्मोंका उपसंहार फल है, ऐसा पूर्वपक्ष और सिद्धान्तमें अन्तर है। दो वस्तुओंका सर्वान्तर होना उपपन्न न होनेसे दोनों ब्राह्मण एक वस्तुका प्रतिपादन करते हैं, यह सिद्ध हुआ। इससे वेद्यके एक होनेसे निर्गुणविद्याके एकत्वमें कोई विवाद नहीं है ॥ ३५ ॥

अन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशान्तरवत् ॥ ३६ ॥

पदच्छेद—अन्यथा, भेदानुपपत्तिः, इति, चेत्, न, उपदेशान्तरवत्।

पदार्थोक्ति—अन्यथा—विद्याया भेदानङ्गीकारे भेदानुपपत्तिः—भेदस्य—आम्नानभेदस्याभ्यासस्य अनुपपत्तिः—उपपत्त्यभावः [प्रयोजनाभावात्] इति चेन्न—उक्तप्रकारेण कश्चिदाशङ्केत, तदा तन्न चारु [यतः] उपदेशान्तरवत्—छान्दोग्ये तत्त्वमसीत्युपदेशे नवकृत्वोऽभ्यस्यमानेऽपि न विद्याभेदो न वानुपपत्तिस्तद्वत् [प्रकृतेऽपि न विद्याभेदो न वोक्तानुपपत्तिरित्यर्थः।]

भाषार्थ—विद्याका यदि भेद न माना जाय, तो आम्नानरूप अभ्यासकी उपपत्ति नहीं होगी, इस प्रकार कोई शङ्का करे, तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे छान्दोग्यमें 'तत्त्वमसि' इस वाक्यका नौ बार अभ्यास करनेपर भी विद्याका भेद और अनुपपत्ति नहीं है, वैसे ही प्रकृतमें भी विद्याका भेद और उक्त अनुपपत्ति नहीं है, ऐसा जानना चाहिए।

भाष्य

अथ यदुक्तमनभ्युपगम्यमाने विद्याभेद आम्नानभेदानुपपत्तिरिति तत्परिहर्तव्यम्। अत्रोच्यते—नायं दोषः। उपदेशान्तरवदुपपत्तेः। यथा ताण्डिनामुपनिषदि षष्ठे प्रपाठके—'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छा० ६।८।७) इति नवकृत्वोऽप्युपदेशे न विद्याभेदो भवति, एवमिहापि भविष्यति। कथं च नवकृत्वोऽप्युपदेशे विद्याभेदो न भवति, उपक्रमोपसंहाराभ्यामेकार्थतावगमात्। 'भूय एव मा भगवान् विज्ञापयतु' (छा० ६।५।४) इति चैकस्यैवार्थस्य पुनः पुनः प्रतिपिपादयिषितव्यत्वेनोपक्षेपात् आशङ्कान्तरनिरा-

भाष्यका अनुवाद

विद्याका भेद न मानें, तो आम्नानका भेद अनुपपन्न होता है, ऐसा जो कहा गया है, उसका परिहार करना चाहिए। इसपर कहते हैं—यह दोष नहीं है, क्योंकि अन्य उपदेशके समान उसकी उपपत्ति होती है। जैसे ताण्डियोंके उपनिषद्के छठे प्रपाठकमें 'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (वह आत्मा है और हे श्वेतकेतु! वह तू है) इस प्रकार नौ बार उपदेश किये जानेपर भी विद्याका भेद नहीं होता है, वैसे यहां भी होगा। परन्तु नौ बार उपदेश किये जानेपर विद्याका भेद क्यों नहीं होता? इससे नहीं होता है कि उपक्रम और उपसंहारसे एक अर्थ ज्ञात होता है। 'भूय एव मा भगवान्०' (भगवान् आप मुझसे फिर कहें) इस प्रकार एक ही अर्थका पुनः पुनः प्रतिपादन करनेकी इच्छासे निर्देश किया गया है और अन्य आशंकाके निराकरणसे बार-बार उपदेश उपपन्न है, अतः

रत्नप्रभा

अन्यथा०। ननु विद्यैक्याङ्गीकारे अभ्यासानुपपत्तिरिति चेत्, उच्यते, स एवाभ्यासः कर्मभेदकः, यो निरर्थकः, इह तूषस्तिब्राह्मणोक्तात्मन एव

रत्नप्रभाका अनुवाद

"अन्यथा०" इत्यादि। विद्याके ऐक्यका स्वीकार होनेपर अभ्यासकी अनुपपत्ति होगी, यदि ऐसी कोई शंका करे, तो उसपर कहते हैं—जो अभ्यास निरर्थक होता है, वही कर्मका

भाष्य

करणेन चासकृदुपदेशोपपत्तेः, एवमिहापि प्रश्नरूपाभेदात्। 'अतोऽन्यदार्तम्' (बृ० ३।४।२–३।५।२) इति च परिसमाप्त्यविशेषादुपक्रमोपसंहारौ तावदेकार्थविषयौ दृश्येते। 'यदेव साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' (बृ० ३।५।१) इति द्वितीयेऽपि प्रश्ने एवकारं प्रयुञ्जानः पूर्वप्रश्नगतमेवार्थमुत्तरत्रानुकृष्यमाणं दर्शयति। पूर्वस्मिंश्च ब्राह्मणे कार्यकरणव्यतिरिक्तस्यात्मनः सद्भावः कथ्यते। उत्तरस्मिंस्तु तस्यैवाशनायादिसंसारधर्मातीतत्वं कथ्यते इत्येकार्थतोपपत्तिः। तस्मादेका विद्येति ॥ ३६ ॥

भाष्यका अनुवाद

विद्याभेद नहीं होता, इसी प्रकार यहां भी प्रश्नरूपके अभेद होनेसे विद्याका भेद नहीं है, 'अतोऽन्यदार्तम्०' (इस आत्मासे अन्य विनाशी है) ऐसी परिसमाप्तिके भी एकरूप होनेसे उपक्रम और उपसंहार एकार्थक ही हैं, ऐसा प्रतीत होता है। 'यदेव साक्षादप०' (जो ही साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म) ऐसे दूसरे प्रश्नमें एवकारका प्रयोग करनेवाले ऋषि पूर्व प्रश्नके अर्थका ही उत्तर प्रश्नमें अनुकर्षण है, ऐसा बतलाते हैं। पूर्व ब्राह्मणमें कार्यकरणसे व्यतिरिक्त आत्माका अस्तित्व कहा है और उत्तर ब्राह्मणमें तो वह अशनाया आदि संसारधर्मसे अतीत है, ऐसा कहा गया है, इस प्रकार एकार्थता उपपन्न होती है। इससे एक विद्या है, यह सिद्ध हुआ ॥ ३६ ॥

रत्नप्रभा

अशनायाद्यत्ययरूपविशेषकथनार्थत्वाद् अभ्यासोऽन्यथासिद्धः, न विद्याभेदक इति समुदायार्थः ॥ ३६ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

भेद बतलाता है, यहां तो उषस्ति ब्राह्मणमें कहा गया आत्मा ही अशनाया आदिसे प्रतीत है, यह विशेष कहना अभ्यासका प्रयोजन है अतः अभ्यास अन्यथा सिद्ध है, विद्याका भेदक नहीं है, ऐसा समुदायका अर्थ है ॥ ३६ ॥



[२३ व्यतिहाराधिकरण सू० ३७]

व्यतिहारे स्वात्मरव्योरेकधा धीरुत द्विधा ।

वस्त्वैक्यादेकधैक्यस्य दार्ढ्याय व्यतिहारधीः ॥ १ ॥

ऐक्येपि व्यतिहारोक्त्या धीर्द्वैधेशस्य जीवता ।

युक्तोपास्त्यै वाचनिकी मूर्तिवद्दार्ढ्यमार्थिकम् ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—स्वदेह और रविमण्डलके अन्योऽन्य व्यतिहारमें एक प्रकारकी बुद्धि—उपासना है, अथवा दो प्रकारकी है ?

पूर्वपक्ष—एक वस्तु होनेसे एक प्रकारकी ही बुद्धि करनी चाहिए, व्यतिहार पाठ तो एक वस्तुकी दृढ़ताके लिए है,

सिद्धान्त—ऐक्य होनेपर भी व्यतिहारकी उक्तिसे दो प्रकारकी बुद्धि-उपासना समझनी चाहिए, और ईशमें जीवत्वका प्रतिपादन उपासनाके लिए युक्त है। और वाचनिकी मूर्तिके समान दृढ़ता तो आर्थिक हो सकती है ।

---

* भाव यह है कि ऐतरेयकमें सुना जाता है 'तद्योऽहं सोऽसौ, योऽसौ सोऽहम्' इत्यादि। इस मन्त्रका अर्थ यह है—जो यह देह-इन्द्रियका साक्षी जीवात्मा है वही आदित्यमण्डलके अन्दर रहनेवाला परमात्मा है और जो मण्डलके अन्दर रहनेवाला है वह हम लोगोंके देहादिमें रहनेवाला है। उसमें अपने शरीरका और रविमण्डलका अन्योऽन्य व्यतिहार सुना जाता है, तो भी जीवब्रह्मैक्यरूप वस्तुके एक होनेसे एक प्रकारकी ही उपासना करनी चाहिए। व्यतिहार पाठका प्रयोजन—वस्तुकी दृढ़ता है, अतः वह पाठ व्यर्थ भी नहीं है।

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं—यह प्रकरण तत्त्वके बोधके लिए नहीं है, जिसे एकत्वकी प्रतिपत्ति दृढताके लिए अपेक्षित हो किन्तु सगुण उपासना परक है, और उपासना वचनके—श्रुतिके अनुसार करनी चाहिए, इसलिए व्यतिहारके सामर्थ्यसे दो प्रकारकी उपासना करनी चाहिए। परन्तु ऐसा होनेपर—जीवका ब्रह्मके साथ ऐक्य है, ऐसा कहकर ब्रह्मका जीवके साथ ऐक्य बोधन किया जाय, तो ब्रह्ममें निकृष्टता सिद्ध होगी ? इस प्रकार यदि कोई शङ्का करे तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि उपासकके मनकी स्थिरताके लिए देहादिरहित ब्रह्मका भी चतुर्भुज, अष्टभुज आदि मूर्तिरूपसे उपदेश किया जाता है और वह व्यर्थ नहीं है, ठीक वैसे ही प्रकृतमें होनेसे श्रुतिके बलसे यदि इसमें जीवत्व की उपासना मानी जाय तो तुम्हारा कौनसा नुकसान है ? उपासनाके लिए अनुष्ठीयमान व्यतिहारमें यदि अर्थात् जीवब्रह्म की एकत्वप्रतिपत्ति दृढ़ हो जाय, तो हम और अधिक कृतकृत्य होंगे। इसलिए व्यतिहारसे द्विविध उपासना है, एकविध नहीं है।

व्यतिहारो विशिंषन्ति हीतरवत् ॥ ३७ ॥

पदच्छेद—व्यतिहारः, विशिंषन्ति, हि, इतरवत् ।

पदार्थोक्ति—व्यतिहारः—'तद्योऽहम्' इत्याद्युक्तः [अत्रोपासनार्थमुपदिश्यते] इतरवत्—यथा इतरे सर्वात्मत्वादय उपासनार्थमुच्यन्ते तद्वत् । हि—यतः [तथाऽऽम्नातारः 'त्वमहमस्म्यहम्' इत्यादिना] विशिंषन्ति—प्रतिपादयन्ति ।

भाषार्थ—'तद्योऽहम्' इत्यादिसे उक्त व्यतिहार यहाँ उपासनाके लिए उक्त है, जैसे अन्य सर्वात्मत्व आदि उपासनाके लिए उक्त हैं, वैसे प्रकृतमें जानना चाहिए, इसीलिए उस प्रकार समाम्नान करनेवाले 'त्वमहमस्म्यहम्' इत्यादिसे प्रतिपादन करते हैं ।

भाष्य

यथा—'तद्योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहम्' इत्यादित्यपुरुषं प्रकृत्यैतरेयिणः समामनन्ति, तथा जाबालाः 'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवतेऽहं वै त्वमसि' इति । तत्र संशयः—किमिह व्यतिहारेणोभयरूपा मतिः कर्तव्या उत एकरूपैवेति । एकरूपैवेति तावदाह । नह्यत्रात्मन ईश्वरेणैकत्वं

भाष्यका अनुवाद

जैसे 'तद्योऽहं सोऽसौ०' (जो मैं हूँ, वही आदित्यमण्डलस्थ पुरुष है, और जो वह है, वह मैं हूँ) इस प्रकार आदित्यपुरुषको प्रस्तुत करके ऐतरेयशाखावाले कहते हैं, वैसे जाबाल कहते हैं—'त्वं वा अहमस्मि०' (हे देवते ! तू ही मैं हूँ और मैं ही तू है) यहांपर—संशय होता है कि क्या यहांपर परस्पर विशेषणविशेष्यभावसे उभयरूप मति करनी चाहिए या एकरूप ?

रत्नप्रभा

व्यतिहार इति । जीवेशयोः मिथो विशेषणविशेष्यभावः व्यतिहारः, तस्य श्रुतत्वात्, 'उत्कृष्टदृष्टिर्निकृष्टे कृता फलवती' इति न्यायात् च संशये जीवे ईश्वरत्वमतिरेव कार्या, उक्तन्यायात्; व्यतिहारश्रुतिस्तु तस्या एव दृढीकरणार्थत्वेन

रत्नप्रभाका अनुवाद

"व्यतिहारो०" इत्यादि । जीव और ईश्वर इन दोनोंका परस्पर विशेषणविशेष्यभाव व्यतिहार है, इस व्यतिहारके श्रुतिप्रतिपादित होनेसे और 'निकृष्टमें की गई उत्कृष्टदृष्टि फलवती होती है' इस न्यायसे संशय होनेपर उक्त न्यायसे जीवमें ईश्वरबुद्धि ही करनी चाहिए,

भाष्य

मुक्त्वाऽन्यत्किंचिच्चिन्तयितव्यमस्ति। यदि चैवं चिन्तयितव्यो विशेषः परिकल्प्येत, संसारिणश्चेश्वरात्मत्वमीश्वरस्य संसार्यात्मत्वमिति। तत्र संसारिणस्तावदीश्वरात्मत्वे उत्कर्षो भवेदीश्वरस्य तु संसार्यात्मत्वे निकर्षः कृतः स्यात्, तस्मादैकरूप्यमेव मतेः। व्यतिहाराम्नायस्त्वेकत्वदृढीकारार्थ इति।

एवं प्राप्ते प्रत्याह—व्यतिहारोऽयमाध्यानायाऽऽम्नायते। इतरवत्—यथेतरे गुणाः सर्वात्मत्वप्रभृतय आध्यानायाऽऽम्नायन्ते तद्वत्। तथा हि विशिंषन्ति समाम्नातार उभयोच्चारणेन 'त्वमहमस्म्यहं च त्वमसि' इति। तच्चोभयरूपायां मतौ कर्तव्यायामर्थवद्भवति, अन्यथा हीदं विशेषेणोभया-

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षी—एकरूप ही मति करनी चाहिए, क्योंकि इस व्यतिहारमें आत्माका ईश्वरके साथ एकत्वके सिवाय अन्य कुछ भी चिन्तन करने योग्य नहीं है। यदि जीवकी ईश्वररूपता और ईश्वरकी जीवरूपता, इस प्रकार चिन्तनीयविशेषकी कल्पना की जाय, तो संसारी जीवको ईश्वररूप माननेमें जीवका उत्कर्ष होगा और ईश्वरको जीवरूप माननेमें ईश्वरका अपकर्ष होगा, इसलिए मतिकी एकरूपता ही है। 'तू ही मैं और मैं ही तू' यह व्यतिहारश्रुति तो एकत्वको दृढ़ करनेके लिए है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर निराकरण करते हैं—यह व्यतिहार आध्यानके लिए कहा जाता है, अन्यके समान—जैसे सर्वात्मत्व आदि अन्य गुण आध्यानके लिए श्रुतिमें कहे गये हैं, वैसे ही यह व्यतिहार भी कहा जाता है, क्योंकि श्रुति कहनेवाले 'त्वमहमस्म्यहं च त्वमसि' इस प्रकार उभयका निर्देश करके उन्हें इस प्रकार विशिष्ट करते हैं, और वह उभयरूपसे मति करनेपर ही सार्थक होता है, नहीं तो इस विशेषसे उभयश्रुति अनर्थक हो जायगी, क्योंकि एकके

रत्नप्रभा

अभ्यासवदन्यथासिद्धा इति दृष्टान्तेन पूर्वपक्षः। तत्र लाघवं फलम्, सिद्धान्ते तु श्रुत्यर्थवत्त्वमिति विवेकः। एकेनैव 'त्वमहमस्मि' इत्युच्चारणेनैकत्वमतेः कृतत्वाद्

रत्नप्रभाका अनुवाद

व्यतिहारश्रुति तो इसी बुद्धिको दृढ़करनेके लिए पिछले अधिकरणमें उक्त अभ्यासके समान अन्यथासिद्ध है, ऐसा दृष्टान्तसंगतिसे पूर्वपक्ष है। पूर्वपक्षमें लाघव फल है और सिद्धान्तमें तो श्रुति सार्थक होती है यह फल है, ऐसा पूर्वपक्ष और सिद्धान्तका विवेक है। यदि 'त्वमहस्मि, (तू मैं हूँ) इस एक ही उच्चारणसे एकत्वबुद्धि हो, तो 'अहं त्वमसि' यह व्यर्थ

भाष्य

म्नानमनर्थकं स्यात्, एकेनैव कृतत्वात्। ननु उभयाम्नानस्याऽर्थविशेषे परिकल्प्यमाने देवतायाः संसार्यात्मत्वापत्तेर्निकर्षः प्रसज्येतेत्युक्तम्। नैष दोषः। ऐकात्म्यस्यैवाऽनेन प्रकारेणाऽनुचिन्त्यमानत्वात्। नन्वेवं सति स एवैकत्वदृढीकार आपद्येत। न वयमेकत्वदृढीकारं वारयामः। किं तर्हि? व्यतिहारेणेह द्विरूपा मतिः कर्तव्या वचनप्रामाण्यान्नैकरूपेत्येतावदुपपादयामः। फलतस्त्वेकत्वमपि दृढीभवति। यथाऽऽध्यानार्थेऽपि सत्यकाम-

भाष्यका अनुवाद

आम्नान—उच्चारणसे ही एकरूप मति सिद्ध हो जायगी। परन्तु उभयश्रुतिमें यदि अर्थविशेषकी कल्पना की जाय, तो देवताकी सांसारिकस्वरूपता प्राप्त होनेसे उसका अपकर्ष हो जायगा, ऐसा हमने (पूर्वपक्षीने) कहा है। नहीं, यह दोष नहीं है, क्योंकि एकस्वरूपताका ही इस प्रकारसे अनुचिन्तन है। परन्तु ऐसा होनेसे उसी एकत्वका दृढ़ होना प्रसक्त होगा। हम एकत्वकी दृढ़ताका निवारण नहीं करते। तब क्या करते हैं? यहांपर—इस उदाहरणमें व्यतिहारसे ही वचनके प्रामाण्यसे द्विरूप मति करनी चाहिए, एकरूप मति नहीं करनी चाहिए, इसीका हम उपपादन करते हैं, और फलसे तो एकत्व भी दृढ़ होता है। जैसे सत्यकामत्व आदि गुणोंका उपदेश यद्यपि ध्यानके लिए है, तो भी ईश्वर

रत्नप्रभा

'अहं त्वमसि' इति वृथा स्यादित्यर्थः। उक्तदोषं स्मारयति—नन्विति। सन्दिग्धेऽर्थे न्यायः सावकाशः, इह तु श्रुतत्वादन्योन्यात्मत्वं ध्येयम्। ब्रह्मणि मनोमयत्वादिवत् जीवात्मत्वस्य ध्यानार्थम् आरोपेऽपि निकर्षप्रसक्त्यभावादिति परिहरति—नैष दोष इति। ब्रह्मणि निकर्षं हित्वा जीवतादात्म्यध्याने मदुक्तमेव आगतमिति शङ्कते—नन्वेवमिति। मतेर्द्विरूपत्वं त्वदनुक्तमस्माभिरुच्यते, ध्यानपरं वाक्य-

रत्नप्रभाका अनुवाद

होगा, ऐसा अर्थ है। उक्त अर्थका स्मरण कराते हैं—"ननु" इत्यादिसे। सन्दिग्ध अर्थमें यह न्याय सावकाश है, यहां तो श्रुति कहती है, इसलिए अन्योऽन्यात्मताका ध्यान करना चाहिए। ब्रह्ममें मनोमयत्व आदिके समान जीवात्माका 'ध्यानके लिए' आरोप होनेपर अपकर्ष नहीं होता, इस प्रकार परिहार करते हैं—"नैष दोषः" इत्यादिसे। परन्तु ब्रह्ममें अपकर्षका त्याग करके जीवके तादात्म्यके ध्यानमें मेरा कहा हुआ ही प्राप्त होता है, इस प्रकार शंका करते हैं—"नन्वेवम्" इत्यादिसे। उभयरूप विचार है, यह जो तुमने (पूर्वपक्षीने) नहीं कहा था, वह हम कहते हैं। यह वाक्य ध्यानपर है; एकत्व तो अन्य प्रमाणके साथ

भाष्य

त्वादिगुणोपदेशे तद्गुण ईश्वरः प्रसिद्ध्यति तद्वत् । तस्मादयमाध्यातव्यो व्यतिहारः समाने च विषये उपसंहर्तव्यो भवतीति ॥ ३७ ॥

भाष्यका अनुवाद

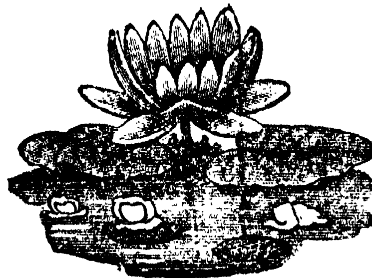
उन गुणोंवाला सिद्ध होता है, वैसे यहांपर भी समझना चाहिए । इसलिए यह व्यतिहार ध्यान करने योग्य है और समान विषयमें उपसंहार करने योग्य है, ऐसा सिद्ध हुआ ॥३७॥

रत्नप्रभा

मिदम्, एकत्वं तु मानान्तराविरोधात् सिध्यतीति समाधत्ते—**न वयमिति** । अहंग्रहोपास्तिषु अयं व्यतिहार उपसंहर्तव्य इत्याह—**तस्मादिति** ॥ ३७ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

विरोध न होनेसे सिद्ध होता है, ऐसा समाधान करते हैं—"न वयम्" इत्यादिसे । अहंग्रहोपास्तिमें इस व्यतिहारका उपसंहार करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे ॥३७॥



[२४ सत्याद्यधिकरण सू० ३८]

द्वे सत्यविद्ये एका वा यक्षरव्यादिवाक्ययोः ।
फलभेदादुभे लोकजयात् पापहतेः पृथक् ॥ १ ॥
प्रकृताकर्षणादेका पापघातोऽङ्गधीफलम् ।
अर्थवादोऽथवा मुख्यो युक्तोऽधिकृतिकल्पकः* ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—यक्षवाक्य और रवि आदि वाक्यसे दो विद्याएँ प्रतीत होती हैं अथवा एक विद्या प्रतीत होती है ?

पूर्वपक्ष—लोकजय और पापनाशरूप फलके भिन्न होनेसे उक्त दो वाक्योंसे दो विद्याएँ जाननी चाहिएँ ।

सिद्धान्त—एक ही विद्या है, क्योंकि प्रकृतका ही आकर्षण करके रविरूपका वर्णन है और पापघात तो उपासनाका फल होनेसे अर्थवादमात्र है । अथवा अधिकारीका कल्पक होनेसे मुख्य उपासनाविधि है ।

---

* भाव यह है कि बृहदारण्यकमें सुना जाता है 'स यो हैतन्महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्म' इत्यादि । यक्षम्—पूज्यम्, प्रथमजम्—हिरण्यगर्भरूपसे प्रथम उत्पन्न । इस वाक्यसे सत्यविद्याका प्रतिपादन करके अनन्तर यह प्रतिपादन किया जाता है—'तद्यत्तत्सत्यम्, असौ स आदित्यो य एष' इत्यादि । तत्—उसमें । अब यहां पूर्वपक्षी कहता है कि उक्त दो वाक्योंसे दो विद्याओंकी प्रतिपत्ति होती है, किससे ? फलका भेद होनेसे यक्षवाक्यमें लोकजयरूप फल कहा गया है, और रविवाक्यमें 'हन्ति पाप्मानम्' इत्यादिसे पापनाशरूप अन्य फल कहा गया है । इससे अगत्या विद्याका भेद है, ऐसा मानना ही होगा ।

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं—यह सत्यविद्या एक ही है 'तद्यत्तत्सत्यम्' इससे प्रकृत सत्यरूप ब्रह्मका अनुवाद करके 'असौ स आदित्यः' इससे रविरूपत्वका वर्णन किया है । यहाँ फलका भेद भी नहीं है । पापनाश उपासनाका फल है, अतः अर्थवाद है, 'अङ्गेषु फलश्रुतिरर्थवादः (अङ्गोंमें—साधनोंमें जहाँ फलश्रुति होती है, वहाँ अर्थवाद समझना चाहिए) इस न्यायसे वह अविवक्षित है । अथवा इस उपासनामें अधिकारीका श्रवण नहीं है, इसलिए श्रूयमाण फलके ही 'कामोपबन्धका' (इच्छाविषयत्वका) अध्याहार करके अधिकारीकी कल्पना करके 'पापघातलोकजयकाम उपासीत' (पापनाशकी और लोकविजयकी इच्छा करनेवाला उपासना करे) इस प्रकार कह सकनेसे विशिष्ट फल ही विवक्षित है । इसलिये एक ही यह सत्यविद्या है, यह सिद्ध हुआ ।

सैव हि सत्यादयः ॥ ३८ ॥

पदच्छेद—सा, एव, हि, सत्यादयः ।

पदार्थोक्ति—[या इयमनन्तरविद्या] सा एव—सत्यविद्यैव, [कुतः ? हिशब्दो हेतौ, तथा च 'तद्यत् तत्सत्यम्' इत्यादिना प्रकृतस्यैव उपास्यस्य हिरण्यगर्भस्याऽऽकर्षणात् हेतोः, नहि उपास्याभेदे विद्याया भेदो युक्ततरः, तस्माद्विद्यैक्यात् सर्वे] सत्यादयः—सत्यप्रभृतयो गुणाः [उपसंहर्तव्याः इति भावः] ।

भाषार्थ—जो अनन्तरविद्या है, वही—सत्यविद्या ही है, किससे ? हि शब्द हेतुके अर्थमें है अतः 'तद्यत् तत्सत्यम्' इत्यादिसे प्रकृत उपास्य हिरण्यगर्भका ही आकर्षण होनेसे, उपास्यके एक होनेसे विद्याका भेद योग्य नहीं है, इस युक्तिसे विद्याका ऐक्य होनेपर सभी सत्य आदि गुणोंका उपसंहार करना चाहिए, ऐसा भाव है ।

भाष्य

'स यो हैतत् महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्म' (बृ० ५।४।१) इत्या-

भाष्यका अनुवाद

'स यो हैतत् महद्‌यक्षं प्रथमजम्०' (जो कोई अधिकारी इस महत्, पूज्य, प्रथम उत्पन्न हुए सत्य ब्रह्मको इस प्रकार जानता है [वह लोकजय प्राप्त करता

रत्नप्रभा

सैव हि सत्यादयः । स यः कश्चिदधिकारी महद् व्यापकं यक्षम्—पूज्यं भौतिकेषु प्रथमजमेतत् सच्च त्यच्चेति सत्यं ब्रह्म हिरण्यगर्भाख्यं वेद उपास्ते, तस्य लोकजयः फलमित्यर्थः । सत्यमिति नाम त्र्यक्षरं सतियमिति । तत्र प्रथमोत्तमे अक्षरे सत्यम्, मध्यस्थमक्षरमनृतमुभयतः सत्येन संपुटितत्वात् सत्यप्रायमेव भवतीति नामाक्षरोपासना सत्यविद्याङ्गत्वेनोक्ता । यत् तत् पूर्वप्रकृतं हृदयाख्यं तत् संप्रयुक्तयक्षत्वादिगुणकम्, सोऽसौ आदित्यमण्डलेऽक्षिणि च पुरुषस्तस्याहरित्यहमिति च

रत्नप्रभाका अनुवाद

"सैव हि सत्यादयः" इति । जो कोई अधिकारी महत् व्यापक यक्ष—पूज्य भौतिकोंमें प्रथम उत्पन्न हुए इस सत्य ब्रह्म, हिरण्यगर्भाख्यको जानता है—इसकी उपासना करता है, उसको लोकजय फल होता है, ऐसा अर्थ है । 'सत्यम्' यह नाम तीन अक्षरका है उनमें प्रथम और अन्तिम अक्षर सत्य है, मध्य अक्षर अनृत है, वह दोनों ओरसे सत्यके साथ सम्पुटित होनेसे सत्यप्राप्य ही होता है, ऐसी सत्यविद्याके अंगरूपसे नामाक्षरकी उपासना की गई है । जो वह पूर्वमें कहा गया हृदयाख्य ब्रह्म है और अब पूर्वोक्त यक्षत्व आदि गुणवाला ब्रह्म है, वह आदित्यमण्डलमें अक्षिमें जो पुरुष है वह है । उसके 'अहः' और 'अहम्' ऐसे दो रहस्यनाम जाननेसे

भाष्य

दिना वाजसनेयके सत्यविद्यां सनामाक्षरोपासनां विधायाऽनन्तरमाम्नायते— 'तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः' (बृ० ५।५।२) इत्यादि। तत्र संशयः—किं द्वे एते सत्यविद्ये किं वैकैवेति। द्वे इति तावत् प्राप्तम्। भेदेन हि फलसंबन्धो भवति 'जयतीमाँल्लोकान्' (बृ० ५।४।१) इति पुरस्तात्, 'हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेद' (बृ० ५।५।३।३) इत्युपरिष्टात्। प्रकृताकर्षणं तूपास्यैकत्वादिति।

भाष्यका अनुवाद

है]) इत्यादिसे वाजसनेयकमें नामाक्षरकी उपासनाके साथ सत्यविद्याका विधान करके पीछे 'तद् यत्तत्सत्यमसौ०' (अब जो वह सत्य है वह यह आदित्य है, जो इस मण्डलमें पुरुष है और जो इस दक्षिण आंखमें पुरुष है) इत्यादि श्रुति है। यहांपर संशय होता है कि क्या ये दो सत्यविद्याएँ हैं या एक ही है ?

पूर्वपक्षी—वे विद्याएँ दो हैं, क्योंकि फलका संयोग भिन्न है, 'जयतीमाँल्लोकान्' (वह इन लोकोंको जीतता है) ऐसा पूर्वकी उपासनामें फल है और 'हन्ति पाप्मानं जहाति च' (वह पापका नाश करता है) ऐसा अन्तिम उपासनामें फल है। प्रकृतका आकर्षण तो उपास्यके एकत्वसे है।

रत्नप्रभा

नामद्वयज्ञानात् पापक्षयः फलमित्यर्थः। अत्र पूर्वोत्तरवाक्ययोः फलभेदश्रुतेः प्रकृताकर्षणाच्च संशयमाह—तत्रेति। पूर्वपक्षे गुणानां व्यवस्थयाऽनुष्ठानं सिद्धान्ते त्वनुष्ठानैक्यमिति फलम्। यथा जीवेशयोरन्योन्यात्मत्वप्रतिश्रुतिभेदात् वैरूप्यमुक्तम्, तथाऽत्र फलश्रुतिभेदात् विद्याभेद इति दृष्टान्तेन पूर्वपक्षयति—द्वे इति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

पापक्षयरूप फल होता है, ऐसा अर्थ है। यहां पूर्ववाक्यमें और उत्तरवाक्यमें फल भिन्न है, ऐसी श्रुति होनेसे और पूर्ववाक्यमें जो प्रकृत है, उसका उत्तरवाक्यमें आकर्षण होनेसे संशय कहते हैं—"तत्र" इत्यादिसे। पूर्वपक्षमें गुणोंका व्यवस्थासे अनुष्ठान फल है और सिद्धान्तमें अनुष्ठानका ऐक्य फल है। जैसे पूर्व अधिकरणमें जीव और ईश्वरके अन्योन्यात्मत्व श्रुतिके भेदसे द्विरूप मति कही गई है, वैसे ही यहां फल और श्रुतिके भेदसे विद्याका भेद है। पूर्वत्र श्रुतिके भेदसे द्विरूप मति करनी चाहिए, ऐसा कहा है, तो यहां भी फलके भेदसे द्विरूप उपासना होगी, ऐसा दृष्टान्तसंगतिसे पूर्वपक्ष करते हैं—"द्वे" इत्यादिसे। विशेष्य जो ब्रह्म है केवल

भाष्य

एवं प्राप्ते ब्रूमः—एकैवेयं सत्यविद्येति। कुतः? 'तद्यत्तत्सत्यम्' (बृ० ५।५।२) इति प्रकृताकर्षणात्। ननु विद्याभेदेऽपि प्रकृताकर्षणमुपास्यैकत्वादुपपद्यत इत्युक्तम्। नैतदेवम्। यत्र तु विस्पष्टात् कारणान्तराद् विद्याभेदः प्रतीयते तत्रैतदेवं स्यात्। अत्र तूभयथा सम्भवे तद्यत्तत्सत्यमिति प्रकृताकर्षणात् पूर्वविद्यासम्बद्धमेव सत्यमुत्तरत्राऽऽकृष्यत इत्येकविद्यात्व-

भाष्यका अनुवाद

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं कि यह सत्यविद्या एक ही है। किससे? इससे कि 'तद् यत्तत्सत्यम्' (वह जो पूर्वोक्त हृदयाख्य सत्य—ब्रह्म है) इस प्रकार प्रकृतका आकर्षण किया जाता है। परन्तु विद्याका भेद होनेपर भी प्रकृतका आकर्षण उपास्यके एक होनेसे उपपन्न होता है, ऐसा हमने कहा है, परन्तु यहांपर ऐसा नहीं है, जहांपर अन्य विस्पष्ट कारणसे विद्याका भेद प्रतीत होता है, वहांपर भले ही प्रकृताकर्षण हो। यहां तो विद्याका भेद और अभेद इन दोनों प्रकारोंसे संभव होनेपर 'तद् यत्तत्सत्यम्' ऐसा प्रकृतका आकर्षण होनेसे पूर्वविद्यासे सम्बद्ध सत्यका ही उत्तर

रत्नप्रभा

विशेष्यब्रह्ममात्राकर्षणमयुक्तम्, तद्यत्तदिति सर्वनामभिः पूर्वोक्तगुणविशिष्टं ब्रह्म आकृष्यादित्याक्षिस्थानादिगुणविधानात्, तथा च वाक्यादेव विद्यैक्यसिद्धिरिति सिद्धान्तयति—एकैवेति। यथा दहरशाण्डिल्यविद्ययोर्ब्रह्मैक्यप्रत्यभिज्ञानमात्रम्, तथाऽत्र नेत्याह—नैतदिति। कारणान्तरं प्रकरणभेदादिकम्। एवं विद्याभेदेऽपि एतदुपास्यैक्यज्ञानं स्यात्, अत्र तूभयथा सम्भवे विद्यैक्यनानात्वसंशये सत्यमित्युपास्यरूपैक्यज्ञानाद् विद्यैक्यनिश्चय इत्यक्षरार्थः। असत्यपवादकारणे

रत्नप्रभाका अनुवाद

उसीका आकर्षण ठीक नहीं है, क्योंकि तद्, यत्, तत्, इन सर्वनामोंसे पूर्वोक्त गुणोंसे विशिष्ट ब्रह्मका आकर्षण करके आदित्यस्थान और अक्षिस्थान आदि गुणोंका विधान है। इसलिए वाक्यसे ही विद्याकी एकता सिद्ध होती है, ऐसा सिद्धान्त करते हैं—"एकमेव" इत्यादिसे। जैसे दहरविद्यामें और शाण्डिल्यविद्यामें ब्रह्मके ऐक्यका प्रत्यभिज्ञानमात्र है, वैसे यहां नहीं है, ऐसा कहते हैं—"नैतत्" इत्यादिसे। कारणान्तर—प्रकरणभेद आदि। इस प्रकार विद्याका भेद होनेपर भी उपास्यके ऐक्यका ज्ञान होगा। यहां तो दोनों प्रकारसे संभव होनेसे विद्याके एकत्व और नानात्वका संशय होनेपर 'सत्यम्' उपास्यरूपके ऐक्यके ज्ञानसे विद्याके ऐक्यका निश्चय होता है, ऐसा अक्षरार्थ है।

भाष्य

निश्चयः। यत्पुनरुक्तं फलान्तरश्रवणाद् विद्यान्तरमिति। अत्रोच्यते—तस्योपनिषदहरहमिति चाऽङ्गान्तरोपदेशस्य स्तावकमिदं फलान्तरश्रवणमित्यदोषः। अपि चाऽर्थवादादेव फले कल्पयितव्ये सति विद्यैकत्वे चाऽवयवेषु श्रूयमाणानि बहून्यपि फलान्यवयविन्यामेव विद्यायामुपसंहर्तव्यानि भवन्ति।

भाष्यका अनुवाद

विद्यामें आकर्षण होनेसे एक विद्या है, ऐसा निश्चय होता है। परन्तु अन्य फलकी श्रुति होनेसे अन्य विद्या है, ऐसा जो कहा गया है, उसपर कहते हैं—उसके रहस्य नाम 'अहः' और 'अहम्' ऐसे अन्य अंगके उपदेशका स्तावक यह अन्य फलका श्रवण है, इसलिए दोष नहीं है। और अर्थवादसे ही फलकी कल्पना होनेपर विद्याकी एकतामें अवयवोंमें श्रूयमाण बहुत फलोंका भी अवयविनी विद्यामें ही उपसंहार करना चाहिए। इसलिए वही एक सत्य-

रत्नप्रभा

रूपैक्यात् विद्यैक्योत्सर्गसिद्धिः, न च फलभेदादपवादः, अङ्गे फलश्रुतेः स्तुतिमात्रतया फलभेदासिद्धिः इत्याह—यत्पुनरित्यादिना। किञ्च, यत्र प्रधानविधौ 'एवंकामः' इति फलं श्रुतम्, तत्र प्रधानफलेनैवाऽङ्गानां फलाकाङ्क्षानिवृत्तेरङ्गे फलश्रुतेः स्तुतिमात्रत्वम्, इह तु 'प्रथमजं सत्यं ब्रह्मेति वेद' इति प्रधानविद्याविधिस्थत्वं लोकजयफलस्याऽभ्युपेत्य अस्माभिर्नामरूपाङ्गस्य फलश्रुतेः स्तुतित्वमुक्तम्। वस्तुतस्तु प्रधानविधावपि एवङ्कामपदाभावाद् रात्रिसत्रन्यायेन फले कल्पनीये सति प्रधाने तदङ्गे वा यत्किञ्चित् फलं श्रुतम्, तस्य सर्वस्यापि श्रुतत्वाविशेषात् जातेष्टिफलन्यायेन समुच्चित्यैकप्रधानफलत्वकल्पनात् फलभेदोऽसिद्ध इत्याह—अपि

रत्नप्रभाका अनुवाद

अपवाद-कारणके न रहनेपर रूपके ऐक्यसे विद्याका ऐक्यरूप उत्सर्ग सिद्ध होता है। और फलभेदसे अपवाद नहीं होता, क्योंकि अंगमें फलश्रुतिके श्रुतिमात्र होनेसे फलभेद असिद्ध है, ऐसा कहते हैं—"यत्पुनः" इत्यादिसे। और जहां प्रधान विधिमें 'ऐसी कामनावाला' इस प्रकार फलका श्रवण होता है, वहां प्रधानके फलसे ही अंगोंके फलकी आकांक्षा निवृत्त होनेसे अंगमें फलश्रुति केवल स्तुतिके लिए होती है। यहां तो 'प्रथमजं सत्यं ब्रह्मेति वेद' (प्रथमज सत्यको ब्रह्मरूपसे जो जानता है) प्रधानविद्या-विधिमें ऐसा लोकजयरूप फल है, ऐसा स्वीकार करके हमने नामरूप अंगकी फलश्रुति स्तुतिके लिए है, ऐसा कहा है। परन्तु वस्तुतः प्रधानविधिमें भी 'ऐसी कामनावाला,' ऐसे पदका अभाव होनेसे रात्रिसत्रन्यायसे फलके कल्पनीय होनेपर प्रधान या उसके अंगमें जो कुछ फल श्रुतिमें कहा गया है, उस सबका श्रुतत्व समान होनेसे जातेष्टिफलन्यायसे सब

भाष्य

तस्मात् सैवेयमेका सत्यविद्या तेन तेन विशेषेणोपेताऽऽम्नायत इत्यतः सर्व एव सत्यादयो गुणा एकस्मिन्नेव प्रयोगे उपसंहर्तव्याः ।

केचित् पुनरस्मिन् सूत्र इदं वाजसनेयकमक्ष्यादित्यपुरुषविषयं वाक्यम्, छान्दोग्ये च–'अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते' (छा० १।६।६) 'अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते' (छा० ४।१५।१) इत्युदाहृत्य सैवेयमक्ष्यादित्यपुरुषविषया विद्योभयत्रैकैवेति कृत्वा सत्यादीन् गुणान् वाजसनेयिभ्यश्छन्दोगानामुपसंहार्यान् मन्यन्ते । तन्न साधु लक्ष्यते । छान्दोग्ये हि ज्योतिष्टोमकर्मसम्बन्धिनीयमुद्गीथव्यपाश्रया विद्या विज्ञायते ।

भाष्यका अनुवाद

विद्या उस उस विशेषसे युक्त कही जाती है, इसलिए सत्य आदि सब गुणोंका एक ही प्रयोगमें उपसंहार करना चाहिए ।

दूसरे कई टीकाकार तो वाजसनेयियोंका यह वाक्य अक्षिपुरुष और आदित्य-पुरुष विषयक है और छान्दोग्यमें 'अथ य एषो०' (आदित्यमें जो यह हिरण्यमय पुरुष दीखता है) और 'अथ य एषो०' (अक्षिमें जो यह पुरुष दीखता है) इन दोनों वाक्योंका उदाहरण देकर अक्षिपुरुष और आदित्यपुरुष सम्बन्धी विद्याएँ दोनों स्थलोंमें एक ही हैं, ऐसा मानकर वाज-सनेयियोंके सत्य आदि गुणोंका छन्दोगोंको उपसंहार करना चाहिए' ऐसा मानते हैं । यह ठीक नहीं दीखता, क्योंकि छान्दोग्यमें ज्योतिष्टोमकर्मसम्बन्धिनी

रत्नप्रभा

चेति । सूत्रं योजयति—तस्मादिति ।

एकदेशिव्याख्याम् उद्भाव्य दूषयति —केचिदित्यादिना । छान्दोग्ये कर्माङ्गो-द्गीथे हिरण्मयपुरुषदृष्टिः इत्यत्र लिङ्गमाह—तत्रेति । पृथिव्यग्न्यात्मना दृष्टे ऋक्सामे गेष्णौ, तस्मात्—ऋक्सामगेष्णत्वात्, पुरुष उद्गीथ इति एवं विद्वान् उद्गाता

रत्नप्रभाका अनुवाद

अंगफल एकत्र होकर एक प्रधानके फलरूपसे कल्पित होते हैं, इसलिए फलभेद असिद्ध है, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे । सूत्रकी योजना करते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे ।

एकदेशीके व्याख्यानका निरूपण करके उसे दूषित करते हैं—"केचित्" इत्यादिसे । छान्दोग्यमें ज्योतिष्टोमके अंगभूत उद्गीथमें हिरण्यमय पुरुषदृष्टि है, इसमें लिंग कहते हैं—"तत्र" इत्यादिसे । अग्नि और पृथिवी रूपसे दृष्ट ऋक और साम ये दो पर्व हैं, इससे ऋक

भाष्य

तत्र ह्यादिमध्यावसानेषु हि कर्मसम्बन्धिचिह्नानि भवन्ति 'इयमेवर्गग्निः साम' (छा० १।६।१) इत्युपक्रमे, 'तस्यर्क्च साम च गेष्णौ तस्मादुद्गीथः' (छा० १।६।८) इति मध्ये, 'य एवं विद्वान् साम गायति' (छा० १।७।९) इत्युपसंहारे, नैवं वाजसनेयके किंचित् कर्मसम्बन्धि चिह्नमस्ति। तत्र प्रक्रमभेदाद् विद्याभेदे सति गुणव्यवस्थैव युक्तेति ॥ ३८ ॥

भाष्यका अनुवाद

यह उद्गीथाश्रित विद्या समझी जाती है, क्योंकि उसमें आदि, मध्य और अवसानमें कर्मसम्बन्धी चिह्न हैं 'इयमेवर्गग्निः साम' (यह पृथिवी ही ऋक् है, अग्नि साम है) ऐसा उपक्रममें, 'तस्यर्क्च' (ऋक् और साम उसके पर्व हैं, इसलिए वह उद्गीथ है) ऐसा उपसंहारमें है। इस प्रकार वाजसनेयकमें कोई कर्मसम्बन्धी चिह्न नहीं है। प्रक्रम भिन्न होनेसे विद्याका भेद होनेपर गुणोंकी व्यवस्था ही युक्त हैं ॥ ३८ ॥

रत्नप्रभा

कर्मफलसमृद्धिसमर्थ इति श्रुत्यर्थः। सत्यविद्या तु न कर्माङ्गाश्रितेत्याह—**नैवमिति**। अङ्गविद्यातः स्वतन्त्रहिरण्यगर्भविद्याया भेदात् न गुणोपसंहार इत्यर्थः ॥३८॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

और सामके पर्व होनेसे पुरुष उद्गीथ है ऐसा जाननेवाला उद्गाता कर्मफलकी समृद्धिमें समर्थ होता है, ऐसा श्रुतिका अर्थ है। सत्यविद्या तो कर्मके अंगरूपसे आश्रित नहीं है, ऐसा कहते हैं—"नैवम्" इत्यादिसे। अंगविद्यासे स्वतन्त्र हिरण्यगर्भविद्याके भिन्न होनेसे गुणोंका उपसंहार नहीं है, ऐसा अर्थ है ॥३८॥



[२५ कामाद्याधिकरण सू० ३९]

असंहृतिः संहृतिर्वा व्योम्नोर्दहरहार्दयोः ।
उपास्यज्ञेयभेदेन तद्गुणानामसंहृतिः ॥ १ ॥
उपास्त्यै क्वचिदन्यत्र स्तुतये चाऽस्तु संहृतिः ।
दहराकाश आत्मैव हृदाकाशोऽपि नेतरः ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—सत्यकामत्व, वशित्व आदि जो दहराकाश और हृदयाकाशके गुण हैं, उनका परस्पर उपसंहार करना चाहिए या नहीं ?

पूर्वपक्ष—उपास्य और ज्ञेयके भिन्न होनेसे उन गुणोंका उपसंहार नहीं हो सकता है ।

सिद्धान्त—कहींपर उपासनाके लिए और कहींपर स्तुतिके लिए उपसंहार होगा ही । और दहराकाश और हृदाकाश आत्मा ही हैं, अन्य नहीं हैं ।

कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः ॥ ३९ ॥

पदच्छेद—कामादि, इतरत्र, तत्र, च, आयतनादिभ्यः ।

पदार्थोक्ति—कामादि—सत्यकामत्वादिगुणग्रामः, इतरत्र—बृहदारण्यके [उपसंहर्तव्यः, यच्च सर्ववशित्वादिकं तदपि तत्र छान्दोग्ये उपसंहर्तव्यम्, कुतः ?] आयतनादिभ्यः—उभयत्राविशिष्टेभ्यः हृदयायतनसेतुव्यपदेशादिभ्यो हेतुभ्यः ।

भाषार्थ—सत्यकामत्व आदि गुण समूहका अन्यत्र—बृहदारण्यकमें उपसंहार करना चाहिए, और सर्ववशित्व आदि जो गुणसमूह है उसका भी छान्दोग्यमें उपसंहार करना चाहिए, किन हेतुओंसे ? आयतन आदि हेतुओंसे—दोनों स्थलोंमें अविशिष्ट—समान हृदयातनसेतुव्यपदेश आदि कारणोंसे ।

---

* भाव यह है कि छान्दोग्यमें 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इससे श्रुत दहराकाशके सत्यकामत्व आदि गुण कहे गये हैं । और बृहदारण्यकमें तो 'य एषोऽन्तर्हृदय आकाश' इससे हार्दाकाशमें वशित्व आदि गुण कहे गये हैं, यहाँपर पूर्वपक्षीका मत है कि परस्पर गुणोंका उपसंहार नहीं करना चाहिए, क्योंकि दहराकाश उपास्य है और हार्दाकाश ज्ञेय है ? अतः विद्याका भेद है ।

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं कि उस स्थलमें वशित्व आदि गुणोंका दहराकाशमें उपासनाके लिए उपसंहार होगा और सत्यकामत्व आदिका हार्दाकाशमें उपसंहार स्तुतिके लिए होगा । यदि कोई कहे कि स्तुति और उपासनारूप प्रयोजनके होनेपर भी विद्याके

भाष्य

'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' (छा० ८।१।१) इति प्रस्तुत्य छन्दोगा अधीयते—'एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः' (छा० ८।१।५) इत्यादि। तथा वाजसनेयिनः—'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी' (बृ० ४।४।२२) इत्यादि। तत्र विद्यैकत्वं परस्परगुणयोगश्च किं वा नेति संशये विद्यैकत्वमिति। तत्रेदमुच्यते—कामादीति। सत्य-

भाष्यका अनुवाद

'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे०' (यह जो इस ब्रह्मपुरमें सूक्ष्म कमलाकार स्थान है और जो इस अभ्यन्तर स्थानमें सूक्ष्म आकाशाख्य ब्रह्म है) इस प्रकार उपक्रम करके छन्दोग—'एष आत्माऽपहतपाप्मा०' (यह आत्मा निष्पाप, जरारहित, मृत्युशून्य, शोकरहित, भोजनेच्छारहित, पिपासारहित, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है) इत्यादि पाठ करते हैं। उसी प्रकार वाजसनेयी—'स वा एष०' (वही यह महान् अज आत्मा है, जो यह प्राणोंमें विज्ञानमय है, जो हृदय-पुण्डरीकमें यह आकाश है उस आकाशमें शयन करता है, वह सबको वशमें करनेवाला है) इत्यादि पढ़ते हैं। यहांपर विद्याका एकत्व और परस्पर गुणोंका योग—उपसंहार है या नहीं? ऐसा संशय होनेपर विद्याका एकत्व है' ऐसा

रत्नप्रभा

कामादीतरत्र०। सगुणनिर्गुणविद्ययोः श्रुताः सत्यकामादयो वशित्वादयश्च गुणा मिथ उपसंहर्तव्या न वा इत्युपसंहारस्य फलभावाभावाभ्यां सन्देहे सत्यविद्याया एकत्वाद् गुणसाङ्कर्येऽप्यत्र विद्ययोः सगुणनिर्गुणरूपभेदेन भेदात् निर्गुणविद्यायां गुणोपसंहारस्य फलाभावात् चाऽनुपसंहार इति बहिरेव प्राप्ते सिद्धान्तयति—तत्रेदमित्यादिना।

रत्नप्रभाका अनुवाद

"कामादीतरत्र" इति। सगुण और निर्गुण विद्यामें कहे गये सत्यकाम आदि और वशित्व आदि गुणोंका अन्योन्यमें उपसंहार करना चाहिए या नहीं? इस प्रकार उपसंहारके फल और फलाभावसे सन्देह होनेपर सत्यविद्याके एक होनेसे गुणोंके संकीर्ण होनेपर भी यहां विद्याओंमें सगुणरूप और निर्गुणरूप स्वरूपभेद होनेसे विद्याका भेद होनेसे और निर्गुणविद्यामें गुणोपसंहारका फल न होनेसे गुणोंका अनुपसंहार है, ऐसा ऊपरसे प्राप्त होनेपर सिद्धान्त करते हैं—"तत्रेदम्" इत्यादिसे।

भेदका परिहार नहीं कर सकते हैं? यह शङ्का नहीं हो सकती है कारण कि विद्याभेद होनेपर भी आकाशशब्दवाच्य आत्मा दोनों स्थलोंमें एक है। दहराकाश आत्मा है, इसका दहराधिकरणमें निरूपण किया गया है। हार्दाकाश आत्मा है, यह 'महानज आत्मा' इस प्रकारके उपक्रमसे समझना चाहिए, इससे उभयत्र उपसंहार है यह समझना चाहिए।

भाष्य

कामादीत्यर्थः । यथा देवदत्तो दत्तः सत्यभामा भामेति । यदेतच्छान्दोग्ये हृदयाकाशस्य सत्यकामत्वादिगुणजातमुपलभ्यते तदितरत्र वाजसनेयके 'स वा एष महानज आत्मा' इत्यत्र सम्बध्येत । यच्च वाजसनेयके वशित्वाद्युपलभ्यते, तदपीतरत्र छान्दोग्ये 'एष आत्माऽपहतपाप्मा' (छा० ८।१।५) इत्यत्र सम्बध्येत । कुतः ? आयतनादिसामान्यात् । समानं ह्युभयत्रापि हृदयमायतनम्, समानश्च वेद्य ईश्वरः, समानं च तस्य सेतुत्वं लोकासम्भेदप्रयोजनमित्येवमादि बहुतरं सामान्यं दृश्यते । ननु विशेषोऽपि दृश्यते छान्दोग्ये हृदयाकाशस्य गुणयोगो वाजसनेयके त्वाकाशाश्रयस्य ब्रह्मण इति । न; 'दहर उत्तरेभ्यः' (ब्र० सू० १।३।१४) इत्यत्र छान्दोग्येऽप्याकाशशब्दं ब्रह्मैवेति प्रतिष्ठापितत्वात् । अयं त्वत्र विद्यते विशेषः—सगुणा हि ब्रह्मविद्या छान्दोग्ये उपदिश्यते, 'अथ य इहाऽऽत्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामान्' (छा० ८।१।६) इत्यात्मवत् कामानामपि वेद्यत्वश्रवणात् । वाजसनेयके तु निर्गुणमेव परं ब्रह्मोपदिश्यमानं दृश्यते 'अत ऊर्ध्वं विमोक्षाय

भाष्यका अनुवाद

सिद्धान्त होता है । यहांपर यह कहते हैं—'कामादि' । सत्यकाम आदि ऐसा अर्थ है जैसे कि 'देवदत्त' 'दत्त' कहा जाता है और 'सत्यभामा' 'भामा' कही जाती है । छान्दोग्यमें हृदयाकाशके सत्यकामत्व आदि जो गुणसमूह उपलब्ध होते हैं, उनका अन्यत्र 'स वा एष महानज आत्मा' (वही यह महान् अज आत्मा है) इस वाजसनेयकमें सम्बन्ध होता है और वाजसनेयकमें जो वशित्व आदि गुण उपलब्ध होते हैं, उनका भी अन्यत्र 'एष आत्माऽपहतपाप्मा' इस छान्दोग्यमें सम्बन्ध होता है । किससे ? स्थान आदिके समान होनेसे, क्योंकि दोनों स्थलोंमें हृदय यह स्थान समान है, वेद्य—ईश्वर समान है और लोकमर्यादाका भंग न होना जिसका प्रयोजन है, ऐसा उनका सेतुत्व भी समान है, इस प्रकार पुष्कल समानता दीखती है । परन्तु विशेष भी दीखता है । छान्दोग्यमें हृदयाकाशके गुणोंका योग है और वाजसनेयकमें आकाशके आश्रय ब्रह्ममें गुणोंका योग है । नहीं, ऐसा नहीं है, क्योंकि, 'दहर उत्तरेभ्यः' इस सूत्रमें छान्दोग्यमें आकाशशब्द ब्रह्मवाचक ही है, ऐसा सिद्धान्त किया गया है । परन्तु यहांपर विशेष है—छान्दोग्यमें सगुण ब्रह्मविद्याका उपदेश है—'अथ य०' (जो यहां आत्माको और इन सत्य कामोंको जानकर प्रयाण करते हैं) इस प्रकार आत्माके समान काम भी वेद्य हैं, ऐसा श्रुति कहती है । वाजसनेयकमें तो निर्गुण परब्रह्मका

भाष्य

ब्रूहि' (बृ० ४।३।१४) 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' (बृ० ४।३।१५) इत्यादिप्रश्नप्रतिवचनसमन्वयात्। वशित्वादि तु तत्स्तुत्यर्थमेव गुणजातं वाजसनेयके संकीर्त्यते। तथा चोपरिष्टात् 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृ० ३।९।२६) इत्यादिना निर्गुणमेव ब्रह्मोपसंहरति। गुणवतस्तु ब्रह्मण एकत्वाद् विभूतिप्रदर्शनायाऽयं गुणोपसंहारः सूत्रितो नोपासनायेति द्रष्टव्यम् ॥ ३९ ॥

भाष्यका अनुवाद

ही उपदेश किया गया दीखता है, क्योंकि 'अत ऊर्ध्वं विमोक्षाय०' (इसके अनन्तर विमोक्षके लिए कहिए), 'असंगो ह्ययं पुरुषः०' (यह पुरुष असंग है) इत्यादि प्रश्न और उत्तरका समूह इसकी स्तुतिके लिए ही वाजसनेयकमें कहा गया है, क्योंकि पीछे 'स एष नेति नेत्यात्मा' (वह यह जो ऐसा नहीं, ऐसा नहीं, इस प्रकार निर्दिष्ट है, वह यह आत्मा है) इत्यादिसे श्रुति निर्गुण ब्रह्मका ही उपसंहार करती है। सगुण ब्रह्मके एक होनेसे उसकी विभूतिके प्रदर्शनके लिए इन गुणोंका उपसंहार सूत्रमें कहा गया है, उपासनाके लिए नहीं कहा है, ऐसा समझना चाहिए ॥ ३९ ॥

रत्नप्रभा

एवं विद्याभेदे स्फुटे कथं गुणोपसंहारः तत्राह—गुणवतस्त्विति। भिन्नविद्यास्थानामपि गुणानामायतनादिसाम्येन निर्गुणस्थले बुद्धिस्थानां स्तुत्यर्थमुपसंहारो युक्तः, ज्ञानस्तुतिप्रकर्षकस्य आकाङ्क्षितत्वात्, यत्र क्वचित् दृष्टगुणैः स्तुतेः कर्तुं योग्यत्वात्। यद्यपि सगुणस्थसत्यकामादिषु निर्गुणस्थगुणा अन्तर्भूता एव, तथापि नोपसंहारोक्तेर्वैयर्थ्यम्, निर्गुणस्तावकत्वेन श्रुतगुणानामन्यत्राप्यध्येयत्वमिमि शङ्कानिरासेनाऽन्तर्भावदार्ढ्यार्थत्वादित्यनवद्यम् ॥ ३९ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार विद्याभेदके स्फुट होनेपर गुणोंका उपसंहार किस प्रकार है? इसपर कहते हैं—"गुणवतस्तु" इत्यादिसे। यद्यपि ये गुण भिन्न विद्या स्थित हैं, तो भी स्थान आदिका साम्य होनेसे निर्गुणविद्यास्थलमें बुद्धिस्थ हुए गुणोंका स्तुतिके लिए उपसंहार युक्त है, क्योंकि ज्ञानस्तुतिका प्रकर्ष आकाङ्क्षित है अतः जहां कहीं गुण दीखते हैं उनके द्वारा स्तुति करनी चाहिए। यद्यपि सगुणविद्यामें स्थित सत्यकाम आदिमें निर्गुणविद्यामें स्थित गुण अन्तर्भूत ही हैं, तो भी उपसंहारकी उक्ति व्यर्थ नहीं है, क्योंकि निर्गुणके स्तावकरूपसे जो गुण श्रुतिमें हैं उनका अन्यत्र भी अध्ययन करना ठीक है, इस शंकाका निरसन करके अन्तर्भाव दृढ़ करनेके लिए उपसंहार है, इस प्रकार कोई दोष नहीं है ॥ ३९ ॥

[२६ आदराधिकरण सू० ४०-४१]

न लुप्यते लुप्यते वा प्राणाहुतिरभोजने ।
न लुप्यतेऽतिथेः पूर्वं भुञ्जीतेत्यादरोक्तितः ॥ १ ॥
भुज्यर्थान्नोपजीवित्वात्तल्लोपे लोप इष्यते ।
भुक्तिपक्षे पूर्वभुक्तावादरोऽप्युपपद्यते* ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—भोजनके अभावमें प्राणाहुतिका लोप होता है या नहीं होता है ?

पूर्वपक्ष—भोजनके अभावमें प्राणाहुतिका लोप नहीं होता है, क्योंकि 'अतिथिके पूर्वमें भोजन करे' इस प्रकार आदरोक्ति है ।

सिद्धान्त—भोजनके लिए उपस्थित अन्नका प्राणाहुति उपजीवी है, अतः उसका—भोजनका लोप होनेपर आहुतिका भी लोप होता है । भोजनपक्षमें पूर्वभोजनमें आदर भी उपपन्न होता है, अतः अभोजनमें आहुतिका लोप होता है ।

आदरादलोपः ॥ ४० ॥

पदच्छेद—आदरात्, अलोपः ।

पदार्थोक्ति—[भोजनलोपे अग्निहोत्रस्य] अलोपः—लोपाभावः [कुतः] आदरात्—'पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्नीयात्' इति जाबालश्रुत्या पूर्वभोजनस्य प्राथम्यरूपधर्मलोपमसहमानया प्राणाग्निहोत्रे आदरकरणात् । [पूर्वपक्षसूत्रमिदम्] ।

भाषार्थ—भोजनका लोप होनेपर भी अग्निहोत्रका लोप नहीं है, क्योंकि 'पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्नीयात्' इत्यादि जाबाल श्रुतिने प्राणाग्निहोत्रमें आदर किया है । यह पूर्वपक्ष सूत्र है ।

---

*भाव यह है कि वैश्वानरविद्याके वाक्यशेषमें 'यां प्रथमामाहुतिं जुहुयात्, तां जुहुयात्' प्राणाय स्वाहा' इत्यादिसे प्राणाहुतिका पाठ किया गया है । उसमें किसी कारणसे भोजनका लोप होनेपर भी उपासककी प्राणाहुतिका लोप नहीं होता है क्योंकि 'पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्नीयात्' (अतिथिसे पूर्व अशन करे) इस प्रकार अतिथिभोजनके पूर्वमें उपासकके लिए—यजमानके लिए भोजनकी प्रसक्ति करनेवाली श्रुतिसे प्राणाहुतिमें आदरका अवबोध होता है । उस आदरकी प्रसिद्धि करनेके लिए ही श्रुति अतिथिभोजनमें प्राथम्यकी निन्दा करती है—'यथा हवै' इत्यादिसे । इससे प्राणाहुतिका लोप नहीं होता है ।

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं कि 'तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत् तद्धोमीयम्' (जो प्रथम भात आता है वह होमीय—होमोपयोगी है) इत्यादिसे भोजनार्थ अन्न ही होमद्रव्य है, इससे भोजनका लोप होनेपर द्रव्यका अभाव हो जानेसे आहुतिका लोप हो जायगा । जो आदर है वह भोजनपक्षमें प्राथम्य विधानके लिए है, इससे यह निर्विवाद है कि भोजनका लोप होनेपर प्राणाहुतिका लोप होता है ।

भाष्य

छान्दोग्ये वैश्वानरविद्यां प्रकृत्य श्रूयते—'तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयं स यां प्रथमामाहुतिं जुहुयात्तां जुहुयात् प्राणाय स्वाहा' (छा० ५।१९।१) इत्यादि । तत्र पञ्च प्राणाहुतयो विहिताः । तासु च परस्तादग्निहोत्रशब्दः प्रयुक्तः 'य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति' (छा० ५।२४।२) इति ।

'यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासते ।
एवं सर्वाणि भूतान्यग्निहोत्रमुपासते ॥' (छा० ५।२४।५) इति च ।

तत्रेदं विचार्यते—किं भोजनलोपे लोपः प्राणाग्निहोत्रस्य, उताऽलोप इति ।

भाष्यका अनुवाद

छान्दोग्यमें वैश्वानरविद्याके आरम्भमें श्रुति कहती है—'तद् यद्भक्त० (इसमें जो भक्त—अन्न प्रथम आवे वह होतव्य है, वह भोक्ता जो पहली आहुति दे, उस आहुतिका 'प्रणाय स्वाहा' इस मन्त्रसे होम करना चाहिए) इत्यादि । उसमें पांच प्राण-आहुतियोंका विधान है और उन आहुतियोंमें आगे अग्निहोत्रशब्द प्रयुक्त है—'य एतदेवं०' (जो इसको इस प्रकार जानता है वह अग्निहोत्रका हवन करता है) और 'यथेह क्षुधिता बाला०' (जैसे यहां भूखे बालक माताकी उपासना करते हैं कि कब माता अन्न देगी, इसी प्रकार सब प्राणी अग्निहोत्रकी उपासना करते हैं, यहांपर विचार किया जाता है कि भोजनका लोप होनेपर प्राणाग्निहोत्रका लोप होता है या लोप नहीं होता ?

रत्नप्रभा

आदरादलोपः । अत्र यच्छब्दाग्निहोत्रशब्दाभ्यां संशयमाह—तत्रेदं विचार्यते इति । वैश्वानरोपासकेन अतिथिभोजनात् प्राक् कार्यत्वेन विद्याङ्गप्राणाग्निहोत्रविचारात् पादसङ्गतिः । पूर्वपक्षे भोजनलोपेऽपि द्रव्यान्तरेण प्राणाग्निहोत्रानुष्ठानम्, सिद्धान्ते तल्लोप इति भेदः । ननु यद्भक्तमिति यच्छब्देन भोजना-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"आदरादलोपः" इति । प्राणाग्निहोत्रमें यत्‌शब्द और अग्निहोत्रशब्दसे संशय कहते हैं—"तत्रेदं विचार्यते" इत्यादिसे । वैश्वानरके उपासकको अतिथि भोजनसे पहले स्वयं भोजन करना चाहिए, इससे विद्याङ्गभूत प्राणाग्निहोत्रका विचार होता है, अतः पादसङ्गति है । पूर्वपक्षमें भोजनलोप होनेपर भी अन्य द्रव्यसे प्राणाग्निहोत्रका अनुष्ठान है और सिद्धान्तमें उसका लोप है, ऐसा पूर्वपक्ष और सिद्धान्तमें भेद है । परन्तु 'यद् भक्तम्' ऐसे यत् शब्दसे

भाष्य

तद्यद्भक्तमिति भक्तागमनसंयोगश्रवणाद्भक्तागमनस्य च भोजनार्थत्वाद्भोजनलोपे लोपः प्राणाग्निहोत्रस्येति । एवं प्राप्ते न लुप्येतेति तावदाह । कस्मात्? आदरात्, तथा हि वैश्वानरविद्यायामेव जाबालानां श्रुतिः—'पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्नीयात्, यथा ह वै स्वयमहुत्वाऽग्निहोत्रं परस्य जुहुयादेवं तत्' इत्यतिथिभोजनस्य प्राथम्यं निन्दित्वा स्वामिभोजनं प्रथमं प्रापयन्ती प्राणाग्निहोत्रे आदरं करोति । या हि न प्राथम्यलोपं सहते नतरां सा प्राथम्यवतोऽग्निहोत्रस्य लोपं संहेतेति मन्यते । ननु भोजनार्थभक्तागमन-

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षी—'तद्यद्भक्तम्०' इससे प्राणाग्निहोत्रका भक्त—अन्नके आगमनके साथ संयोग सुना जाता है और भक्तका आगमन भोजनके लिए है, अतः भोजनका लोप होनेपर प्राणाग्निहोत्रका लोप होता है ऐसा प्राप्त होनेपर प्राणाग्निहोत्रका लोप नहीं होगा। किससे? आदरसे, क्योंकि वैश्वानरविद्यामें जाबालोंकी श्रुति है—'पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्नीयात्, (उसको अतिथिसे पूर्व भोजन करना चाहिए, जैसे अपने अग्निहोत्रहोमके बिना किये दूसरेका अग्निहोत्र हवन करे, वैसे ही वह है) इस प्रकार अतिथिभोजनके प्राथम्यकी निन्दा करके स्वामिभोजनको प्रथम प्राप्त कराती हुई श्रुति प्राणाग्निहोत्रमें आदर दिखलाती है, क्योंकि जो श्रुति प्राथम्यका लोप नहीं सह सकती, वह प्राथम्य जिसको है, ऐसे अग्निहोत्रका लोप तो और भी नहीं सह सकेगी, ऐसा माना जाता है।

रत्नप्रभा

क्षिप्तभक्तम् अनूद्य तद्धोमीयमिति होमसंयोगविधानादाक्षेपकभोजनलोपे तदाक्षिप्तभक्ताश्रितहोमलोप इति सिद्धान्ती शङ्कते— तद्यदिति । निर्गुणस्योपास्तिलोपेऽपि स्तुत्यर्थगुणस्थैर्यवद् भोजनलोपेऽपि प्राणाग्निहोत्रस्य आदरेण स्तुतिनिर्वाहार्थमलोप इति दृष्टान्तेन पूर्वपक्षसूत्रेण परिहरति—एवं प्राप्ते इति । एवं तदिति—स्वयं

रत्नप्रभाका अनुवाद

भोजनाक्षिप्त भक्तका अनुवाद करके 'तद्धोमीयम्' इस प्रकार होमसंयोगका विधान किया गया है, इसलिए आक्षेपक भोजनका लोप होनेपर उससे आक्षिप्त जो भक्त है, तदाश्रित होमका लोप होता है, इस प्रकार सिद्धान्ती शंका करते हैं—"तद्यत्" इत्यादिसे। जैसे निर्गुणकी उपासनाका लोप होनेपर भी स्तुतिके लिए गुणोंकी दृढ़ता है, वैसे ही भोजनका लोप होनेपर भी प्राणाग्निहोत्रका, आदरसे स्तुतिके निर्वाहके लिए, अलोप है, इस प्रकार दृष्टान्त द्वारा पूर्वपक्षसूत्रसे शंका करते हैं—"एवं प्राप्ते" इत्यादिसे। 'एवं तत्'—स्वयं प्राणाग्निहोत्र न करके अतिथियोंको

भाष्य

संयोगाद् भोजनलोपे लोपः प्रापितः । न; तस्य द्रव्यविशेषविधानार्थत्वात् । प्राकृते ह्यग्निहोत्रे पयःप्रभृतीनां द्रव्याणां नियतत्वादिहाप्यग्निहोत्रशब्दात् कौण्डपायिनामयनवत् तद्धर्मप्राप्तौ सत्यां भक्तद्रव्यैकतागुणविशेषविधानार्थ-

भाष्यका अनुवाद

परन्तु भोजनके लिए जो अन्नका आगमन होता है, उसका प्राणाग्निहोत्रके साथ सम्बन्ध होनेसे, भोजनलोप होनेपर प्राणाग्निहोत्रका लोप प्राप्त होता है, ऐसा कहा है। नहीं, ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि द्रव्यविशेषका विधान करना उसका प्रयोजन है। प्राकृत—मुख्य अग्निहोत्रमें पय आदि द्रव्योंके नियत होनेसे यहांपर भी अग्निहोत्रशब्दसे कुण्डपायियोंके अयनके समान उसके धर्मकी प्राप्ति होनेपर भक्तरूप द्रव्यके एकतारूप विशेष गुणका विधान करने लिए

रत्नप्रभा

प्राणाग्निहोत्रमकृत्वाऽतिथीनां तत्करणमित्यर्थः । उक्तं स्मारयित्वा परिहरति—**ननु इत्यादिना** । यथा कुण्डपायिसत्रगते मासाग्निहोत्रे अग्निहोत्रशब्दाद् गौणाद् नित्याग्निहोत्रवाचकात् नित्याग्निहोत्रधर्माणां पयोद्रव्यादीनां प्राप्तिस्तथा इहाऽपि प्राणाहुतिषु अग्निहोत्रशब्दवशात् पयोद्रव्यादीनामुत्सर्गतः प्राप्तौ सत्यां भोजनार्थ-भक्तद्रव्यविधिनाऽपवादः कृतः, अतो भक्तविधेरपवादार्थत्वाद् भोजनलोपे—भक्ताख्य-गुणस्य अङ्गस्य लोपेऽपि न मुख्यस्य अग्निहोत्रस्य लोपः, अपवादाभावे उत्सर्ग-प्राप्तपयआदिना तस्य निष्पत्तिसम्भवादिति प्राप्तमित्यर्थः । 'गुणलोपे न मुख्यस्य' इति जैमिनिसूत्रम् । आधाने सन्ति पवमानेष्टयः, तत्र 'अग्नये पवमानाय पुरोडाश-

रत्नप्रभाका अनुवाद

भोजन कराना, ऐसा अर्थ है। उक्त शंकाका स्मरण कराकर उसका परिहार करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। जैसे कुण्डपायियोंके सत्रगत मासाग्निहोत्रमें नित्य अग्निहोत्रके वाचक गौण अग्निहोत्रशब्दसे नित्य अग्निहोत्रके धर्म पयोद्रव्य आदिकी अतिदेशसे प्राप्ति होती है, उसी प्रकार यहां भी प्राणाहुतिमें अग्निहोत्रशब्दके बलसे पयोद्रव्य आदिके उत्सर्गसे प्राप्त होनेपर भोजनार्थ भक्त द्रव्यकी विधिसे अपवाद किया है, इसलिए भक्तविधिके अपवादार्थ होनेसे भोजनलोप होनेपर—भक्ताख्य अंगभूत गुणका लोप होनेपर भी मुख्य अग्निहोत्रका लोप नहीं होता, क्योंकि अपवादके अभावमें उत्सर्गसे प्राप्त पय आदिसे अग्निहोत्रकी निष्पत्तिका संभव है, ऐसा प्राप्त होता है, यह अर्थ है। "गुणलोप०" (अंगका लोप होनेपर मुख्यका लोप नहीं होता) यह जैमिनिसूत्र है। अग्निके आधानमें पवमान इष्टियां हैं, उनमें—'अग्नये पवमानाय०' (पवमान गार्हपत्य अग्निको आठ कपालवाला पुरोडाश दे) ऐसा निर्वाप श्रुतिमें कहा है, उसके अंगरूप

भाष्य

मिदं वाक्यम् 'तद्यद्भक्तम्' इति । अतो गुणलोपे न मुख्यस्येत्येवं प्राप्तम् । भोजनलोपेऽप्यद्भिर्वाऽन्येन वा द्रव्येणाऽविरुद्धेन प्रतिनिधानन्यायेन प्राणाग्निहोत्रस्याऽनुष्ठानमिति ॥ ४० ॥

अत उत्तरं पठति—

भाष्यका अनुवाद

'तद् यद्भक्तम्' यह वाक्य है । इसलिए गुणका लोप होनेपर मुख्यका लोप नहीं है, ऐसा प्राप्त हुआ । भोजनका लोप होनेपर जलसे या अन्य अविरुद्ध द्रव्यसे, प्रतिनिधिन्यायसे प्राणाग्निहोत्रका अनुष्ठान है ॥ ४० ॥

इसपर उत्तर कहते हैं—

रत्नप्रभा

मष्टाकपालं निर्वपेद्' इति निर्वापः श्रुतस्तदङ्गत्वेन 'अग्निहोत्रहवण्यां हवींषि निर्वपेत्' इति दर्शपूर्णमासाख्यप्रकृतौ विहिताग्निहोत्रहवण्यतिदेशेन प्राप्ता, आधानकाले चाऽग्निहोत्राभावात् तस्या गुणभूताया लोपेऽपि मुख्यस्य निर्वापस्य न लोप इत्यर्थः । आरब्धनित्यादिकर्मणोऽवश्यानुष्ठेयत्वाच्छ्रुतद्रव्यालाभे प्रतिनिहितद्रव्येणापि कर्म कर्तव्यमिति प्रतिनिधिन्यायः ॥ ४० ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अग्निहोत्रहवणीमें हविका निर्वाप करे, इस प्रकार दर्शपूर्णमासनामक प्रकृतियागमें विहित अग्निहोत्रहवनी अतिदेशसे प्राप्त हुई, परन्तु आधानकालमें अग्निहोत्रका अभाव होनेसे अग्निहोत्रहवनीमें जो निर्वाप है उसका लोप नहीं होता, ऐसा अर्थ है । आरब्ध नित्य आदि कर्मोंके अवश्य अनुष्ठेय होनेसे श्रुत द्रव्यकी प्राप्ति न होनेपर प्रतिनिधिरूप द्रव्यसे भी कर्म करना चाहिए, यह प्रतिनिधिन्याय है ॥४०॥

उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् ॥ ४१ ॥

पदच्छेद—उपस्थिते, अतः, तद्वचनात् ।

पदार्थोक्ति—उपस्थिते—भोजने उपस्थिते, अतः—अस्मादेव भोजनद्रव्यात् [प्राणाग्निहोत्रं कार्यम् , अनुपस्थिते त्वग्निहोत्रस्य लोप एव, कुतः ?] तद्वचनात्—'तद्यद् भक्तं प्रथम' इति वचनादित्यर्थः, [आदरवचनन्तु भोजनप्राप्तिदशायां बोध्यम्] ।

भाषार्थ—भोजनद्रव्यके उपस्थित होनेपर इसी भोजनद्रव्यसे प्राणाग्निहोत्र करना चाहिए, क्योंकि 'तद्यद्भक्तम्' इत्यादि वाक्य है और आदरवचन तो भोजनकी प्राप्तिदशाको लेकर है, ऐसा भाव है ।

भाष्य

उपस्थिते भोजनेऽतस्तस्मादेव भोजनद्रव्यात् प्रथमोपनिपतितात् प्राणाग्निहोत्रं निर्वर्तयितव्यम्। कस्मात्? तद्वचनात्। तथा हि—'तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयम्' (छा० ५।१९।१) इति सिद्धवद्भक्तोपनिपातपरामर्शेन परार्थद्रव्यसाध्यतां प्राणाहुतीनां विदधाति। ता अप्रयोजकलक्षणापन्नाः सत्यः कथं भोजनलोपे द्रव्यान्तरं प्रतिनिधापयेयुः। न चाऽत्र प्राकृताग्निहोत्रधर्मप्राप्तिरस्ति, कुण्डपायिनामयने हि 'मासमग्निहोत्रं जुहोति'

भाष्यका अनुवाद

सिद्धान्ती—भोजनके उपस्थित होनेपर उस प्रथम प्राप्त भोजनद्रव्यसे प्राणाग्निहोत्र करना चाहिए। किससे? उसका वचन होनेसे। तद्यद्भक्तम्०' (इसलिए जो भक्त प्रथम आवे, वह होतव्य है) यह श्रुति सिद्धवत् भक्तका जो आगमन है उसके [तत्शब्दसे] परामर्शसे परार्थ—भोजनार्थ द्रव्य (भक्त) से प्राणाहुति साध्य हैं, ऐसा विधान करती है। उन आहुतियोंमें प्रयोजकके लक्षण—आक्षेपकत्वके न होनेसे भोजनका लोप होनेपर वे किस प्रकार अन्य द्रव्यका प्रतिनिधान न्यायसे आक्षेप कर सकेंगी। और यहांपर प्रकृत अग्निहोत्रके धर्मकी प्राप्ति नहीं है। कुण्डपायीके अयनमें 'मासपर्यन्त अग्निहोत्र करें' इस विधिके

रत्नप्रभा

सिद्धान्तयति—उपस्थितेऽतस्तद्वचनादिति। तद्धोमीयमिति तच्छब्देन भोजनार्थसिद्धभक्तमाश्रित्य होमविधानादित्यर्थः। सिद्धवद्भक्तोपनिपातः—प्रकृतभक्तागमनम्, तस्य तच्छब्देन परामर्शेनेत्यर्थः। आश्रित्य विहिताहुतीनामाश्रयलोपे लोप एव, न द्रव्यान्तराक्षेपकत्वम्, यथा क्रतुप्रयुक्ताऽप्प्रणयनाश्रितस्य गोदोहनस्य क्रतुलोपे लोपो न स्वाश्रयान्तरप्रयोजकत्वम्, तथेति फलितमाह—ता इति। यदुक्तमग्निहोत्रशब्दाद् द्रव्यान्तरप्राप्तिरिति, तत्राह—न चात्रेति। तद्भावो नित्याग्निहोत्र-

रत्नप्रभाका अनुवाद

सिद्धान्त करते हैं—"उपस्थितेऽतस्तद्वचनात्" से। "तद्वचनात्" इसका 'तद्धोमीयम्' यहांपर तत्शब्दसे भोजनके लिए जो सिद्ध भक्त है, उसका आश्रय कर होमके विधानसे, ऐसा अर्थ है। सिद्धवत् भक्तोपनिपातः—प्रकृत भक्तकी प्राप्ति, उसका 'तत्' शब्दसे परामर्श करके ऐसा अर्थ है। भोजनका आश्रयण करके विहित आहुतियोंके आश्रयका लोप होनेपर लोप ही हो जाता है। आहुतियां अन्य द्रव्यका आक्षेप नहीं करतीं, जैसे क्रतुप्रयुक्त अप्प्रणयनके आश्रित गोदोहनका क्रतुका लोप होनेपर लोप ही हो जाता है वह अन्य आश्रयका आक्षेप नहीं करता, वैसे ही यहांपर भी समझना चाहिए, इस प्रकार फलित कहते हैं—"ताः" इत्यादिसे। अग्निहोत्रशब्दसे अन्य द्रव्यकी प्राप्ति होती है, ऐसा जो कहा गया है, उसपर कहते हैं—

भाष्य

इति विध्युद्देशगतोऽग्निहोत्रशब्दस्तद्वद्भावं विधापयेदिति युक्ता तद्धर्मप्राप्तिः। इह पुनरर्थवादगतोऽग्निहोत्रशब्दो न तद्वद्भावं विधापयितुमर्हति। तद्धर्मप्राप्तौ चाभ्युपगम्यमानायामग्न्युद्धरणादयोऽपि प्राप्येरन्। न चाऽस्ति सम्भवः, अग्न्युद्धरणं तावद्धोमाधिकरणभावाय, न चाऽयमग्नौ होमो भोजनार्थताव्याघातप्रसङ्गात्, भोजनोपनीतद्रव्यसम्बन्धाच्चाऽऽस्य एवैष होमः। तथा च जाबालश्रुतिः 'पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्नीयात्' इत्यास्याधारामेवेमां होमनिर्वृत्तिं दर्शयति। अत एव चेहापि सांपादिकान्येवाग्निहोत्राङ्गानि दर्शयति— 'उर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमा-

भाष्यका अनुवाद

उद्देशमें अग्निहोत्रशब्द कहा गया है। इससे वह प्रकृत अग्निहोत्रके सदृश धर्मोंका विधान करावेगा। इससे उसमें उसके धर्मकी प्राप्ति युक्त है। परन्तु यहांपर— प्राणाग्निहोत्रमें अर्थवादगत अग्निहोत्रशब्द प्रकृत अग्निहोत्रके सदृश धर्मोंका विधान नहीं करा सकता। और यदि अग्निहोत्रके धर्मकी प्राप्ति मानी जाय, तो अग्निका उद्धरण आदि भी प्राप्त होगा। किन्तु उसका यहांपर संभव नहीं है, क्योंकि अग्निका उद्धरण होमके अधिकरणत्वके लिए है और यह होम अग्निमें नहीं होता है, क्योंकि भोजनके लिए है, ऐसा जो कहा गया है, उसका व्याघात हो जायगा और भोजनके लिए लाये गये द्रव्यके साथ सम्बन्ध होनेसे मुखमें ही यह होम होता है। जाबाल श्रुति—'पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्नीयात्' (अतिथिसे पूर्व भोजन करे) इस प्रकार मुखमें ही इस होमकी निष्पत्तिको दिखलाती है। इसीसे यहांपरभी श्रुति कल्पनासे सम्पादन किये गये अग्निहोत्रांगको दिखलाती है— 'उर एव वेदिर्लोमानि वर्हिर्हृदयं०' (इस वैश्वानर भोक्ताका उरस्थान ही वेदी है

रत्नप्रभा

सादृश्यम्, अर्थवादस्थशब्दस्य स्तुतित्वेन उपपत्तेरित्यर्थः। धर्मप्रापकत्वे दोषमाह— तद्धर्मप्राप्तौ चेति। अत एवेति—तद्धर्मप्राप्त्यभावादेवेत्यर्थः। प्राप्तौ सम्पादनं वृथा स्यादिति भावः। मुख्याग्निहोत्राङ्गानि उत्पाद्यन्ते चेत्, कथं तदनङ्गं वेदिरत्र

रत्नप्रभाका अनुवाद

"न चाऽत्र" इत्यादिसे। तद्वद्भाव—नित्याग्निहोत्रकी सदृशता। अर्थवादवाक्योंमें स्थित शब्द स्तुतिरूपसे उपलब्ध होता है, ऐसा अर्थ है। धर्मप्रापकतामें दोष कहते हैं— "तद्धर्मप्राप्तौ च" इत्यादिसे। 'अत एव'—इसीसे—नित्य अग्निहोत्रके धर्मकी प्राप्ति न होनेसे ही। प्राप्ति हो, तो सम्पादन वृथा होगा, ऐसा भाव है। यदि मुख्य अग्नि-

भाष्य

हवनीयः' (छा० ५।१८।२) इति। वेदिश्रुतिश्चात्र स्थण्डिलमात्रोपलक्षणार्था द्रष्टव्या, मुख्याग्निहोत्रे वेद्यभावात्, तदङ्गानां चेह संपिपादयिषितत्वात्। भोजनेनैव च कृतकालेन संयोगान्नाग्निहोत्रकालावरोधसंभवः। एवमन्येऽप्युपस्थानादयो धर्माः केचिद् कथंचिद् विरुध्यन्ते। तस्माद्भोजनपक्ष एवैते मन्त्रद्रव्यदेवतासंयोगात् पञ्च होमा निर्वर्तयितव्याः। यस्त्वादरदर्शनवचनं तद्भोजनपक्षे प्राथम्यविधानार्थम्। नह्यस्ति वचनस्याऽतिभारः।

भाष्यका अनुवाद

[समानाकार होनेसे] लोम दर्भ है [वेदीपर दर्भके समान छातीमें रोम आस्तीर्ण दीखते हैं] हृदय गार्हपत्य है, मन अन्वाहार्यपचन—दक्षिणाग्नि है और मुख आहवनीय अग्नि है।) यहांपर—प्राणाग्निहोत्रमें वेदीकी श्रुति स्थण्डिलमात्रके उपलक्षणके लिए है, ऐसा समझना चाहिए, क्योंकि मुख्य अग्निहोत्रमें वेदीका अभाव है और प्राणाग्निहोत्रमें उसके अंगोंका सम्पादन कराना अभीष्ट है। जिसका कालनिश्चय किया गया है, ऐसे भोजनके साथ [प्राणाग्निहोत्रका] संयोग होनेसे मुख्य अग्निहोत्रके कालके अवरोधका सम्भव नहीं है। इसी प्रकार उपस्थान आदि दूसरे भी कई एक धर्म कथंचित् विरुद्ध होते हैं। इसलिए मन्त्र, द्रव्य और देवताके संयोगसे भोजनपक्षमें ही ये पांच होम करने योग्य हैं। परन्तु आदरदर्शनके लिए जो वचन है, वह तो भोजनपक्षमें प्राथम्यका

रत्नप्रभा

सम्पाद्यते, तत्राह—वेदिश्रुतिश्चेति। मुख्याग्निहोत्रस्थाग्न्युद्धरणवत् सायम्प्रातःकालद्वयस्यापि न प्राप्तिरित्याह—भोजनेनेति। उपस्थानपरिस्तरणादयोऽपि अग्न्यभावात् न प्राप्नुवन्तीत्याह—एवमिति। यस्मात् तद्धर्मप्राप्त्यभावः तस्माद् भोजनद्रव्येणैव होम इत्युपसंहारः। प्राणाय स्वाहा इत्यादयो मन्त्राः। ननु स्वामिभोजनस्योत्तरकालत्वं श्रुत्यादिविहितं कथं 'पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्नीयाद्' इति वचनेन

रत्नप्रभाका अनुवाद

होत्रके अंगोंका सम्पादन हो, तो उसकी अनंगभूता जो वेदी है उसका सम्पादन यहां कैसे होता है, इसपर कहते हैं—"वेदिश्रुतिश्च" इत्यादिसे। मुख्य अग्निहोत्रमें स्थित अग्निके उद्धरणके समान सायंकाल और प्रातःकाल इन दो कालोंकी भी प्राप्ति नहीं है, ऐसा कहते हैं—"भोजनेन" इत्यादिसे। उपस्थान परिस्तरण आदि भी अग्निके अभावसे प्राप्त नहीं होते, ऐसा कहते हैं—"एवम्" इत्यादिसे। मुख्य अग्निहोत्रके धर्मोंकी प्राप्ति न होनेसे भोजनद्रव्यसे

भाष्य

न त्वनेनाऽस्य नित्यता शक्यते दर्शयितुम्। तस्माद् भोजनलोप लो एव प्राणाग्निहोत्रस्येति ॥ ४१ ॥

भाष्यका अनुवाद

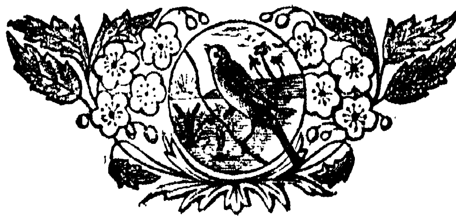
विधान करनेके लिए है। इसमें वचनका कोई बोझ नहीं है, क्योंकि इससे इसकी नित्यता नहीं दिखाई जा सकती, इससे भोजन लोप होनेपर प्राणाग्निहोत्रका लोप ही होता है ॥ ४१ ॥

रत्नप्रभा

बाध्यते, तत्राह—नह्यस्तीति। उपासकान्यस्वामिविषयमुत्तरकालत्वविधानमित्यर्थः। न त्विति। प्राथम्यमात्रेणेत्यर्थः। प्राणोपासकस्य प्राप्ते भोजने प्राथम्यार्थतयाऽऽदरस्य अन्यथासिद्धौ फलितमाह—तस्मादिति ॥ ४१ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

ही होम है, ऐसा उपसंहार है। 'प्राणाय स्वाहा'—इत्यादि मन्त्र है। परन्तु यदि कोई शंका करे कि स्वामीका भोजनकाल अतिथिके भोजनकालसे पश्चात् है, ऐसा श्रुति और स्मृतिसे विहित है, यह वचन 'पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्नीयात्' इस वचनसे किस प्रकार बाधित होगा? उसपर कहते हैं—"नह्यस्ति" इत्यादिसे। उपासकसे अन्य स्वामीमें उत्तरकालत्वका विधान लागू होता है, ऐसा अर्थ है। "न तु" इत्यादि। केवल प्राथम्यसे नहीं ऐसा अर्थ है। प्राणके उपासकको भोजन प्राप्त होनेपर प्राथम्यके अर्थमें आदर होनेसे आदरके अन्यथासिद्ध होनेपर फलित कहते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे ॥ ४१ ॥



[२७ तन्निर्धारणाधिकरण सू० ४२]

नित्या अङ्गावबद्धाः स्युः कर्मस्वनियता उत ।
पर्णवत्क्रतुसम्बन्धो वाक्यान्नित्यास्ततो मताः ॥ १ ॥
पृथक्फलश्रुतेर्नैता नित्या गोदोहनादिवत् ।
उभौ कुरुत इत्युक्तं कर्मोपास्यनुपासिनोः ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—कर्ममें अङ्गरूपसे आश्रित उपासनाएँ नित्य हैं अर्थात् नियमसे अनुष्ठेय हैं या कर्मोंमें अनियत हैं ?

पूर्वपक्ष—पर्णताके समान क्रतुके साथ वाक्य द्वारा उनका सम्बन्ध है, अतः उनका नियमसे अनुष्ठान करना चाहिए।

सिद्धान्त—पृथक् पृथक् फलका श्रवण होनेसे गोदोहनके समान ये उपासनाएँ नित्य नहीं हैं और 'उभौ कुरुतः' (दोनों—उपासक और अनुपासक करते हैं) इससे उपासक और अनुपासक-दोनोंके लिए कर्म कहा गया है, इससे अनियत हैं, ऐसा समझना चाहिए।

---

* इस अधिकरणका सारांश यह है कि प्रतिमाके प्रतीकभूत समान उद्गीथ आदि कर्मके अङ्गोंमें विधीयमान देवतोपासना अङ्गावबद्ध है इसलिए कर्मोंके अनुष्ठानके प्रसङ्गसे नियमतः उनका अनुष्ठान करना चाहिए, यद्यपि कर्मप्रकरणका आरम्भ करके उनका पठन नहीं किया गया है, तथापि वाक्यसे क्रतुसम्बन्ध संपन्न हो सकता है। जैसे 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति' (जिसकी जुहू—यज्ञपात्र पर्णमयी होती है) इसके अनारभ्याधीत होनेपर भी अव्यभिचारिणी जुहू द्वारा वाक्यप्रमाणसे क्रतुका सम्बन्ध माना गया है, वैसे ही 'य एवं विद्वानुद्गायति' (जो इस प्रकार जाननेवाला उद्गान करता है) 'य एवं विद्वान् साम गायति' (जो ऐसा जानकर सामका गान करता है) इत्यादिमें व्यभिचाररहित क्रतुसम्बन्धी साम और उद्गीथ द्वारा उन उपासनाओंका क्रतुके—यज्ञके साथ सम्बन्ध प्रतीत होता है। इससे उपासनाएँ कर्मोंमें नियमतः प्राप्त हैं।

ऐसा प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं कि गोदोहनके समान उपासनाएँ अनियत हैं। जैसे 'चमसेनापः प्रणयेत्, गोदोहनेन पशुकामस्य' (चमस पात्रसे जलका प्रणयन—नयन करे, पशुकी इच्छा करनेवाला गोदोहनसे करे, इत्यादि स्थलमें अप्प्रणयनका आश्रयण करके विधीयमान गोदोहन है, तो भी ऐच्छिक होनेके कारण प्रणयनके समान नियत नहीं है। वैसे प्रकृतमें कर्माङ्गोंका आश्रय करके उपासनाओंका विधान है, तो भी वे क्रतुकी अङ्ग नहीं हैं, किन्तु स्वतन्त्र पुरुषार्थ हैं, क्योंकि कर्मफलसे पृथक् उनका फल सुना जाता है—'वर्षति हास्मै' इत्यादि पांच प्रकारके सामोंमें देवताकी उपासना करनेवालोंका ऐच्छिक वृष्टि—क्रतुफलसे अन्य फल सुना जाता है। और भी 'तेनोभौ कुरुतः' इस प्रकार अङ्गाश्रित उपासनावाक्यके शेषमें उपासक और अनुपासक—दोनोंका उपास्यका आधारभूत उस अङ्गसे कर्मका अनुष्ठान स्पष्ट रीतिसे कहा गया है। इससे कर्मोंमें उपासनाका नियम नहीं है।

तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फलम् ॥४२॥

पदच्छेद—तन्निर्धारणानियमः, तद्दृष्टेः, पृथक्, हि, अप्रतिबन्धः, फलम् ।

पदार्थोक्ति—तन्निर्धारणानियमः—तेषाम्—कर्माङ्गाश्रितानां निर्धारणानाम्—उपासनानाम् अनियमः—नित्यवदनुष्ठानाभावः [कुतः ?] तद्दृष्टेः—तस्य—अनियमस्य दृष्टेः—'तेनोभौ कुरुतः' इति श्रुतौ दर्शनात्, [उपासनानां पृथक्फलश्रवणाद् हि न नित्यवदनुष्ठानमित्याह]—पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फलम्—हि—यस्मात् कर्मफलतः पृथगेव अप्रतिबन्धः 'यदेव विद्यया करोति' इति वीर्यवत्तरत्वात्मककर्मसमृद्धिरूपः फलम्—परिणामः उपलभ्यते—प्राप्यते [अतो न कर्माङ्गत्वमुपासनानामिति भावः] ।

भाषार्थ—कर्माङ्गोंसे आश्रित उपासनाओंका नित्यके समान अनुष्ठान नहीं है, क्योंकि वह अनियम 'तेनोभौ कुरुतः' इत्यादि श्रुतिमें दृष्ट है, यद्यपि उपासनाओंका पृथक् फल सुना जाता है, तो भी नित्यके समान अनुष्ठान नहीं है, यह कहते हैं—पृथक् इत्यादिसे। जिससे कि कर्मफलसे अन्य ही वीर्यवत्तरत्वात्मक कर्मसमृद्धिरूप फल उपलब्ध होता है, इससे कर्माङ्गत्व उपासनाओंमें नहीं है, यह सिद्ध हुआ ।

भाष्य

सन्ति कर्माङ्गव्यपाश्रयाणि विज्ञानानि—'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' (छा० १।१।१) इत्येवमादीनि । किं तानि नित्यान्येव स्युः

भाष्यका अनुवाद

'ओमित्येतदक्षरमु०' (उद्गीथके अवयव ओम् इस वर्णकी उपासना करे) इत्यादि कर्म—ज्योतिष्टोम आदिके अङ्गका आश्रयण करनेवाली उपासनाएँ हैं । क्या

रत्नप्रभा

तन्निर्धार्णेति । उभयथा दृष्टान्तदर्शनात् संशयमाह—**किं तानीति** । यथा अनारभ्याधीतपर्णमयीत्वं जुहूद्वारा क्रत्वङ्गतया कर्मसु नित्यं प्रयुज्यते, तथा अङ्गाश्रितोपासनानि उद्गीथादिद्वारा अङ्गतया नित्यानि उत क्रत्वङ्गापूप्रणयनाश्रयो गोदोहनसंयोगः

रत्नप्रभाका अनुवाद

"तन्निर्धारणा०" इत्यादिसे। दोनों प्रकारके दृष्टान्तोंके देखनेमें आनेसे संशय कहते हैं—"किं तानि" इत्यादिसे । जैसे क्रतुके प्रकरणमें जिसका अध्ययन नहीं है, ऐसे पर्णमयीत्व जुहूद्वारा क्रतुका अङ्ग होकर कर्मोंमें नित्य प्रयुक्त होता है, वैसे अङ्गके आश्रित उपासना उद्गीथादि द्वारा अङ्ग

भाष्य

कर्मसु पर्णमयीत्वादिवदुताऽनित्यानि गोदोहनादिवदिति विचारयामः। किं तावत् प्राप्तम्—नित्यानीति। कुतः? प्रयोगवचनपरिग्रहात्। अनारभ्याधीतान्यपि ह्येतान्युद्गीथादिद्वारेण क्रतुसम्बन्धात् क्रतुप्रयोगवचनेनैवाङ्गान्तरवत् संस्पृश्यन्ते। यत्त्वेषां स्ववाक्येषु फलश्रवणम् 'आपयिता ह वै कामानां भवति' (छा० १।१।७) इत्यादि, तद्वर्तमानापदेशरूपत्वादर्थवादमात्रमेव, अपापश्लोक-

भाष्यका अनुवाद

वे उपासनाएं कर्मोंमें पर्णमयीत्व आदिके समान नित्य ही होंगी या गोदोहन आदिके समान अनित्य होंगी ? इस विषयमें हम विचार करते हैं। प्रथम क्या प्राप्त होता है ?

पूर्वपक्षी—नित्य हैं। किससे ? प्रयोग वचनके परिग्रहसे। क्रतुके प्रकरणमें जो पठित नहीं हैं ऐसी इन उपासनाओंका उद्गीथ आदि द्वारा क्रतुसे सम्बन्ध होनेसे क्रतुप्रयोगके वचनसे ही अन्य अंगके समान ये भी संस्पृष्ट होती हैं। स्ववाक्योंमें इन विज्ञानोंका जो फलश्रवण है—'आपयिता ह वै०' (जो विद्वान् इस प्रकार उद्गीथके अवयव ओम् वर्णकी उपासना करता है वह यजमानके कामोंको प्राप्त करानेवाला होता है) इत्यादि, वह फलश्रवण

रत्नप्रभा

पशुफलार्थत्वादनित्यत्वेन यथा प्रयुज्यते, यथा वा पश्वङ्गयूपाश्रयं बैल्वमन्नाद्यफलत्वादनित्यम्, तथा कर्मसमृद्ध्यादिफलकत्वाद् उपासनान्यनङ्गत्वेनाऽनित्यानीति संशयार्थः। पूर्वपक्षे उपासनानां प्रयोगनित्यत्वम्, सिद्धान्ते त्वनित्यत्वमिति फलभेदः। अनित्यभोजनाश्रयप्राणाग्निहोत्रस्याऽनित्यत्ववद् नित्यकर्माङ्गोपास्तीनां नित्यत्वमिति प्रत्युदाहरणदृष्टान्तेन पूर्वपक्षमाह—किं तावदिति।

उपासनानि कर्माङ्गानि, अफलत्वे सति कर्माङ्गाश्रितत्वात्, पर्णमयीत्वादिवत्,

रत्नप्रभाका अनुवाद

होकर नित्य है या क्रतुका अङ्ग जो जलप्रणयन, उसके आश्रित गोदोहनसंयोग पशुफलार्थक होनेसे अनित्यरूपसे जैसे प्रयुक्त होता है और जैसे पश्वङ्गभूत यूपके आश्रित बैल्व अन्नाद्यफलक होनेसे अनित्य है, वैसे ही कर्मसमृद्धि आदि फल होनेसे उपासनाएँ अनङ्ग होनेसे अनित्य हैं, ऐसा संशयका अर्थ—विषय है। पूर्वपक्षमें उपासनाएँ प्रयोगमें नित्य हैं और सिद्धान्तमें अनित्य हैं, ऐसा पूर्वपक्ष और सिद्धान्तके फलका भेद है। जैसे अनित्य भोजनके आश्रित प्राणाग्निहोत्र अनित्य है, वैसे नित्य कर्मके अङ्गभूत उपासनाएँ नित्य हैं, ऐसा प्रत्युदाहरण दृष्टान्तसे पूर्वपक्ष कहते हैं—"किं तावत्" इत्यादिसे।

उपासनाएँ कर्मकी अङ्ग हैं, अफल होकर कर्मके अंगके आश्रित होनेसे, पर्णमयीत्वके समान,

भाष्य

श्रवणादिवन्न फलप्रधानम्। तस्माद् यथा 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति' इत्येवमादीनामप्रकरणपठितानामपि जुह्वादिद्वारेण क्रतुप्रवेशात् प्रकरणपठितवन्नित्यता, एवमुद्गीथाद्युपासनानामपीति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—तन्निर्धारणानियम इति। यान्येतान्युद्गीथादिकर्मगुणयाथात्म्यनिर्धारणानि 'रसतम आप्तिः समृद्धिर्मुख्यप्राण आदित्यः' इत्येवमादीनि नैतानि नित्यवत् कर्मसु नियम्येरन्। कुतः ? तद्दृष्टेः। तथा ह्यनि-

भाष्यका अनुवाद

वाक्यमें वर्तमान कालका निर्देश होनेके कारण अर्थवादमात्र ही हैं, अपाप श्लोकश्रुति आदिके समान फल प्रधान नहीं है। इसलिए जैसे 'यस्य पर्णमयी०' (जिसकी पर्णमयी जुहू होती है वह पापश्लोकका श्रवण नहीं करता) इत्यादि क्रतुप्रकरणमें पठित न होनेपर भी जुहू आदिके द्वारा क्रतुमें प्रवेश होनेसे प्रकरणमें पढ़े गयेके समान नित्य ही है, इसी प्रकार उद्गीथ आदि उपासनाओंको भी समझना चाहिए।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—उपासनाके निर्धारणका अनियम है। 'रसोंमें वह श्रेष्ठ, कामोंकी प्राप्ति करानेवाला, समृद्धिका देनेवाला, मुख्य प्राण, आदित्य है, इत्यादि उद्गीथ आदि कर्मगुणोंके यथावत् स्वरूपका निर्धारण करनेवाली जो उपासनाएँ हैं—वे उपासनाएँ नित्य अंगोंके समान कर्मोंमें नियमित होनेवाली नहीं हैं। किससे ? [श्रुतिमें] उनके दिखाई

रत्नप्रभा

तथा चाऽङ्गतया प्रयोगविधिना नित्येन प्रयुज्यते इति प्राप्ते सिद्धान्तसूत्रं व्याचष्टे—यानीत्यादिना। उद्गीथादयः कर्मणां गुणाः—अङ्गानि तेषां याथात्म्यम्—रसतमत्वादिकं तन्निर्धारणान्युपासनानि यानि, तानि कर्मसु नित्यपर्णमयीत्वादिवन्न नियम्येरन्नित्यर्थः। एषां कर्माङ्गत्वे तद्धीनस्य अविदुषः कर्म न स्यात्, अङ्गलोपात्, तस्माद् अविदुषोऽपि कर्मकर्तृत्वश्रुतिलिङ्गैरङ्गत्वानुमानबाध इत्याह—तद्दृष्टेरिति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा अनुमान है। इस प्रकार अंग होकर नित्य प्रयोगविधिसे प्रयुक्त होती हैं, ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्तसूत्रका व्याख्यान करते हैं—"यानि" इत्यादिसे। उद्गीथ आदि कर्मगुण हैं अर्थात् कर्मके अंग हैं। उन अङ्गोंका याथात्म्य रसतमत्व आदि है, उस याथात्म्यका निर्धारण करनेवाली जो उपासनाएँ हैं, वे कर्ममें पर्णमयीत्वके समान नियमित नहीं हैं, ऐसा अर्थ है। यदि उपासनाएँ कर्मकी अङ्ग हों, तो उनका याथात्म्य न जाननेवालेका अंग लोप होनेसे कर्म नहीं होगा, परन्तु याथात्म्य न जाननेवालेका कर्म है, ऐसी श्रुति होनेसे उपासना

भाष्य

यतत्वमेवंजातीयकानां दर्शयति श्रुतिः—'तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद' (छा० १।१।१०) इत्यविदुषोऽपि क्रियाभ्यनुज्ञानात्। प्रस्तावादिदेवताविज्ञानविहीनानामपि प्रस्तोत्रादीनां याजनाध्यवसानदर्शनात् 'प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान् प्रस्तोष्यसि' (छा० १।१०।९) 'तां चेदविद्वानुद्गास्यसि' (छा० १।१०।१०) 'तां चेदविद्वान् प्रतिहरिष्यसि' (छा० १।१०।११) इति च। अपि चैवंजातीयकस्य

भाष्यका अनुवाद

देनेसे। क्योंकि इस प्रकारकी उपासनाएँ अनित्य हैं, ऐसा श्रुति दिखलाती है—'तेनोभौ कुरुतो०' (उस ओंकाराख्य अक्षर द्वारा जो इस उद्गीथावयवभूत अक्षरको इस प्रकार रसतमत्वादि विशिष्ट जानता है—अक्षरयाथात्म्यको जानता है और जो नहीं जानता—कर्ममात्र जानता है, अक्षरयाथात्म्यको नहीं जानता वे दोनों उस अक्षर द्वारा कर्म करते हैं) इस प्रकार अविद्वान्के लिए भी कर्मकी अनुज्ञा दी गई है। और प्रस्तावादिके देवताके विज्ञानसे रहित प्रस्तोता आदिमें याजनका निश्चय देखा जाता है, 'प्रस्तोतर्या देवता०' (हे प्रस्तोता, जो देवता प्रस्तावभक्तिमें अनुगत है, उस देवताको—प्रस्तावभक्तिकी देवताको जाने बिना यदि तू प्रस्तवन करेगा तो तेरा मस्तक गिर जायगा) 'तां चेदविद्वानुद्गास्यति' (हे उद्गाता, उस देवताको—प्रस्तावभक्तिकी देवताको जाने बिना यदि तू उद्गान करेगा, तो तेरा शिर गिर पड़ेगा) 'तां चेदविद्वान् प्रतिहरिष्यति०' (हे प्रतिहर्त्ता, उस देवताको—प्रस्तावभक्तिकी देवताको जाने बिना यदि तू प्रतिहार करेगा तो तेरा शिर गिर जायगा) ऐसा चाक्रायणने आक्षेप किया है,

रत्नप्रभा

तस्याऽनियमस्य दर्शनादित्यर्थः। 'तां चेदविद्वान् प्रस्तोष्यसि मूर्धा ते पतिष्यति' इति चाक्रायणेनार्त्विजामाक्षिप्तत्वादनुपासकानामपि कर्मप्रयोगोऽस्तीत्याह—प्रस्तावादीति। उपास्तीनां कर्मफलात् पृथक् फलश्रुतेर्न कर्माङ्गत्वमित्याह—अपि

रत्नप्रभाका अनुवाद

कर्मकी अङ्ग है, ऐसे अङ्गत्वानुमानका अविद्वान् भी कर्मका कर्त्ता है इस श्रुतिलिंगसे बाध है, ऐसा कहते हैं—"तद्दृष्टेः" इत्यादिसे। तद्दृष्टेः—अनियमके देखनेसे, ऐसा अर्थ है। 'तां चेदविद्वान्०' इस प्रकार चाक्रायणने ऋत्विजोंका आक्षेप किया है, इससे प्रतीत होता है कि जो उपासक नहीं है उनका भी कर्मप्रयोग है, ऐसा कहते हैं—"प्रस्तावादि" इत्यादिसे। उपासनाओंका फल कर्मफलसे पृथक् है, ऐसी श्रुति है, इससे उपासना कर्मकी अङ्ग नहीं है,

भाष्य

कर्मण्यपाश्रयस्य विज्ञानस्य पृथगेव कर्मणः फलमुपलभ्यते कर्मफलसिद्ध्य-प्रतिबन्धस्तत्समृद्धिरतिशयविशेषः कश्चित्—'तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद, नाना तु विद्या चाविद्या च यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' (छा० १।१।१०) इति। तत्र नाना त्विति विद्वदविद्वत्प्रयोगयोः पृथक्करणाद् वीर्यवत्तरमिति च तरप्प्रत्ययप्रयोगाद् विद्याविहीनमपि कर्म वीर्यवदिति गम्यते। तच्चाऽनित्यत्वे विद्याया उपपद्यते,

भाष्यका अनुवाद

इससे प्रस्तोता आदिकी अविद्वत्ता सिद्ध होती है। और इस प्रकारकी अंगभूत उपासनाका कर्मफलसे पृथक् फलकी सिद्धिका अप्रतिबन्ध फल उपलब्ध होता है, कर्मफलकी समृद्धि अर्थात् कोई एक अतिशय विशेष फल—'तेनोभौ कुरुतो०' (इस प्रकार व्याख्यात उस अक्षरको जो जानता है और जो अक्षरका याथात्म्य नहीं जानता, किन्तु कर्ममात्र जानता है वे दोनों कर्म करते हैं। परन्तु विद्या और अविद्या दोनों भिन्न हैं, विज्ञानसे, श्रद्धासे और उपनिषद्से युक्त होकर जो कर्म करता है वही अविद्वान्‌के कर्मसे अधिक फलवाला होता है) इत्यादि। उस श्रुतिमें 'नाना तु' इस शब्दसे विद्वान् और अविद्वान् द्वारा किये गये प्रयोगोंमें पार्थक्य करनेसे और 'वीर्यवत्तरम्' इसमें (अधिकतावाचक) तरप्प्रत्ययका प्रयोग होनेसे विद्याहीन कर्म भी वीर्यवान्—फलवाला होता है, ऐसा समझा जाता है। और वह विद्याके अनित्य होनेपर उपपन्न होता है, यदि विद्या

रत्नप्रभा

चेति। तेन—ओमित्यक्षरेण। यश्च एतद् अक्षरम् एवं रसतमत्वादिरूपेण वेद—उपास्ते, यश्च न वेद तावुभौ कर्म कुरुत एव यद्यपि, तथापि तु विद्याविद्ययोः नानात्वं भिन्नफलत्वम्। दृष्टं हि मणिविक्रये ज्ञानाज्ञानाभ्यां वणिक्शबरयोः फलवैषम्यम्। तस्माद् यदेव कर्म विद्यया—उद्गीथाद्युपास्त्या श्रद्धया—आस्तिक्यबुद्ध्या

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। तेन—'ओम्' इस अक्षरसे। यद्यपि जो इस अक्षरको रसतमत्व आदिरूपसे जानता है अर्थात् इस अक्षरकी उपासना करता है और जो नहीं जानता अर्थात् इसकी उपासना नहीं करता, वे दोनों कर्म करते ही हैं; तो भी विद्या और अविद्याका भिन्न भिन्न फल है। मणिका विक्रय करनेमें ज्ञान और अज्ञानसे जौहरी और भीलको भिन्न-भिन्न फल मिलता है, ऐसा देखा गया है। इससे जो कर्मविद्यासे—उद्गीथ आदिकी उपास्तिसे, श्रद्धासे—आस्तिक्यबुद्धिसे और उपनिषद्से—रहस्य देवताके ध्यानसे

भाष्य

नित्यत्वे तु कथं तद्विहीनं कर्म वीर्यवदित्यनुज्ञायेत। सर्वाङ्गोपसंहारे हि वीर्यवत्कर्मेति स्थितिः। तथा लोकसामादिषु प्रतिनियतानि प्रत्युपासनं फलानि शिष्यन्ते 'कल्पन्ते हास्मै लोका ऊर्ध्वाश्चावृत्ताश्च' (छा० २।२।३)

भाष्यका अनुवाद

नित्य हो, तो उससे (विद्यासे) विहीन कर्म वीर्यवत् है, ऐसी अनुज्ञा श्रुतिसे किस प्रकार की जा सकती है? क्योंकि सब अंगोंका उपसंहार होनेपर कर्म वीर्यवत् होता है, ऐसी स्थिति है। उसी प्रकार लोकदृष्टि आदिसे साम आदि उपासनामें—'कल्पन्ते हास्मै०' (जो इस प्रकार जानकर लोकोंमें पांच प्रकारका साम साधु है, ऐसी उपासना करता है, उसको भूमिसे ऊपर और नीचेके लोक—भोग

रत्नप्रभा

उपनिषदा—रहस्यदेवताध्यानेन करोति, तदेव कर्म फलातिशयवदित्यर्थः। कर्मणो वीर्यवत्त्वं नाम फलवत्त्वं विद्याहीनस्यापि गम्यमानं विद्याया अनङ्गत्वे लिङ्गमिति भावः। साम्नि लोकादिदृष्ट्युपासनेषु कर्मसमृद्ध्यतिरिक्तलोकादिफलश्रुतेश्च नाऽङ्गत्वमित्याह—तथेति। अस्मै—विदुषे कल्पन्ते—भोगाय समर्था भवन्ति भूमेरूर्ध्वा लोकाः आवृत्ताः—अधस्तनाश्चेत्यर्थः। तथा हि गुणवाद इति फलश्रुतेरर्थवादमात्रत्वे स्तुतिलक्षणा स्यात्, सा न युक्ता, मुख्यवृत्त्या फलपरत्वसम्भवात्। प्रयाजानुयाजकर्मणां तु प्रकरणाद् दर्शाद्यङ्गत्वलाभाद् भ्रातृव्याभिभूतिफलश्रुतेरगत्या स्तुतिलक्षकत्वम्, यद्यपि पर्णमयीत्वादीनामङ्गत्वबोधकं प्रकरणं नास्ति, तथापि तेषु फलश्रुतेः स्तुतित्वम्, तेषामक्रियात्वेन क्रियासम्बन्धं विना फलहेतुत्वानुपपत्तेः, अत-

रत्नप्रभाका अनुवाद

किया जाता है, वही कर्म अतिशय फलवाला होता है, ऐसा अर्थ है। विद्याहीनको भी गम्यमान कर्मका वीर्यवत्त्व अर्थात् फलवत्त्व, विद्या कर्मकी अङ्गभूत नहीं है, इसमें लिंग है, ऐसा भाव है। साममें लोकादि दृष्टिरूप उपासनाओंमें कर्मसमृद्धिसे अन्य लोकादि फल श्रुतिमें कहा गया है, इससे भी उपासना कर्मकी अङ्ग नहीं है, ऐसा कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे। भूमिसे ऊपरके लोक और भूमिसे नीचेके लोक विद्वान्के भोगके किए समर्थ होते हैं ऐसा अर्थ है। 'तथा हि गुणवादः' इसका तात्पर्य यह है कि फलश्रुतिके अर्थवादमात्र होनेपर स्तुतिमें लक्षणा होगी, वह युक्त नहीं है, क्योंकि मुख्यवृत्तिसे श्रुति फलका बोध करा सकती है। प्रयाज, और अनुयाज कर्मोंको तो प्रकरणसे दर्श आदिका अङ्गत्व प्राप्त होता है, इससे भ्रातृव्याभिभूतिरूप फलश्रुति अगत्या स्तुतिलक्षक है, यद्यपि पर्णमयीत्व आदिका अङ्गत्व-बोधक प्रकरण नहीं है—किसी क्रतुके प्रकरणमें आनेसे वे क्रतुके अङ्ग हों, ऐसा नहीं है—तो भी

भाष्य

इत्येवमादीनि । न चेदं फलश्रवणमर्थवादमात्रं युक्तं प्रतिपत्तुम्, तथा हि गुणवाद आपद्येत, फलोपदेशे तु मुख्यवादोपपत्तिः, प्रयाजादिषु त्विति-कर्तव्यताकाङ्क्षस्य क्रतोः प्रकृतत्वात्तादर्थ्ये सति युक्तं फलश्रुतेरर्थवादत्वम् । तथाऽनारभ्याधीतेष्वपि पर्णमयीत्वादिषु, नहि पर्णमयीत्वादीनामक्रियात्मकानामाश्रयमन्तरेण फलसम्बन्धोऽवकल्पते । गोदोहनादीनां हि प्रकृता-

भाष्यका अनुवाद

भूमि—भोगके समर्थ होते हैं) इत्यादि प्रतिनियत फल कहे गये हैं । और इस फलश्रवणको केवल अर्थवाद समझना ठीक नहीं है, क्योंकि वे केवल अर्थवाद हैं ऐसा माननेसे उन्हें गुणवाद मानना पड़ेगा, परन्तु फलके उपदेशमें तो मुख्यवाद उपपन्न होता है । प्रयाज आदिमें तो इतिकर्तव्यता—इस प्रकार करनेकी आकांक्षा रखनेवाले क्रतुके प्रकृत होनेसे प्रयाज आदिमें क्रत्वर्थत्व है उसमें तादर्थ्य होनेपर फलश्रुति अर्थवाद हो, यह युक्त है । उसी प्रकार प्रकरणके आरम्भमें जिनका अध्ययन नहीं हुआ है ऐसे पर्णमयीत्व आदिमें भी फलश्रुतिका अर्थवादत्व है । अक्रियारूप होनेसे पर्णमयीत्वका भी आश्रयके बिना फलसम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि गोदोहन आदिमें तो प्रकृत जलप्रणयन आश्रयका लाभ

रत्नप्रभा

स्तेषां फलार्थं क्रियापेक्षितत्वात् क्रतोश्च जुहूप्रकृतिद्रव्याकाङ्क्षितत्वात् 'पर्णमयी जुहूः' इत्यादिवाक्येनैव प्रकृतिद्रव्यार्पकेण जुहूद्वारा सन्निहितक्रत्वङ्गत्वसिद्धेर्युक्तं फल-श्रुतेरर्थवादत्वमिति भावः । अक्रियात्मकगोदोहनादेरपि फलश्रुतिरर्थवादः स्यादत आह—**गोदोहनादीनां हीति** । 'यदपः प्रणयेत्तत्पशुकामस्य सतो गोदोहनेन ब्रह्म-वर्चसकामस्य कांस्येन' इति फलार्थविधिरेव, नाऽर्थवादः । गोदोहनादेः क्रत्वनाकाङ्-

रत्नप्रभाका अनुवाद

उनमें फलश्रुति अर्थवाद—स्तुति है, क्योंकि पर्णमयीत्व आदि अक्रिया होनेसे क्रियाके सम्बन्धके बिना फलहेतु हों, यह युक्त नहीं है । अतः फलके लिए उनको क्रियाकी अपेक्षा है और क्रतुको जुहूप्रकृति द्रव्यकी आकांक्षा होनेसे 'पर्णमयी जुहू' इत्यादि वाक्यसे ही—प्रकृतिद्रव्यबोधक वाक्यसे ही जुहूद्वारा पर्णमयीत्व आदि संनिहित क्रतुके अङ्ग सिद्ध होनेसे फलश्रुति अर्थवाद है, यह युक्त है, यह अभिप्राय है । अक्रियात्मक गोदोहन आदिका फलश्रुति आर्थवाद होगी, इसपर कहते हैं—"गोदोहनादीनां हि" इत्यादिसे । 'पशुकी कामना हो, तो जल-प्रणयन गोदोहनसे करे और ब्रह्मवर्चसकी कामना हो, तो कांस्यपात्रसे करे' ऐसी फलार्थ-विधि ही है, अर्थवाद नहीं है । क्योंकि गोदोहन आदिकी क्रतुको आकांक्षा न होनेसे, वे

भाष्य

प्रणयनाद्याश्रयलाभादुपपन्नः फलविधिः । तथा बैल्वादीनामपि प्रकृत-यूपाद्याश्रयलाभादुपपन्नः फलविधिः, न तु पर्णमयीत्वादिष्वेवंविधः कश्चिदाश्रयः प्रकृतोऽस्ति । वाक्येनैव तु जुह्वाद्याश्रयतां विवक्षित्वा फलेऽपि विधिं विवक्षतो वाक्यभेदः स्यात् । उपासनानां तु क्रियात्मकत्वाद्विशिष्टविधानो-पपत्तेरुद्गीथाद्याश्रयाणां फले विधानं न विरुध्यते । तस्माद् यथा क्रत्वाश्रया-

भाष्यका अनुवाद

होने से फलविधि उपपन्न है । उसी प्रकार बैल्व आदिमें भी प्रकृत यूप आदि आश्रयका लाभ होनेसे फलविधि उपपन्न है । परन्तु पर्णमयीत्व आदिमें इस प्रकार कोई आश्रय प्रकृत नहीं है, परन्तु वाक्यसे ही जुहू आदिको आश्रय कहनेकी इच्छासे फलमें भी विधिकी विवक्षा करनेवालेको वाक्यभेद होगा । उपासनाएँ तो क्रियात्मक हैं, उनका विशिष्टविधान उपपन्न होनेसे उद्गीथादिके आश्रित हुई उपासनाओंके फलमें विरोध नहीं होता । इसलिए जैसे यज्ञके आश्रित

रत्नप्रभा

क्षितत्वेनाऽक्रत्वाभावात्, चमसेन निराकाङ्क्षक्रियासम्बन्धितया स्वफलसाधकत्व-सम्भवात् । तथा खादिरत्वेन निराकाङ्क्षक्रत्वङ्गयूपमाश्रित्य "बैल्वमन्नाद्यकामस्य खादिरं वीर्यकामस्य" इति फलार्थविधिरेवार्थः । पर्णमयीत्वादिषु फलविधिः किं न स्यात्? अत आह—न त्विति । एवंविधः यूपादिवन्निराकाङ्क्ष इत्यर्थः । जुहूरेवाश्रय इत्यत आह—वाक्येनैवेति । जुह्वाः प्रकृतिद्रव्यापेक्षित्वादनेनैव वाक्येन क्रत्वङ्गतया जुहूप्रकृतिद्रव्यसम्बन्धो विधेयः पश्चात् निराकाङ्क्ष जुहू-माश्रित्य तस्यैव प्रकृतिद्रव्यस्य फलसंयोगो विधेय इति वाक्यभेद इत्यर्थः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

क्रतुके अङ्ग नहीं है, निराकांक्ष क्रियाका सम्बन्धी होनेसे चमससे ही क्रतु स्वफलका साधक हो सकता है । उसी प्रकार निराकांक्ष क्रतुका अंग जो यूप है उसका खादिरत्वरूपसे आश्रय होनेसे बैल्वयूप अन्नाद्य कामनावालेके लिए और खादिरयूप वीर्यकी कामनावालेके लिए है ? यह फलार्थविधि ही है । पर्णमयीत्व आदिमें भी फलविधि क्यों न हो, उसपर कहते हैं—"न तु" इत्यादिसे । एवं विध—इस प्रकारका—यूप आदिके समान आकांक्षारहित, यह अर्थ है । जुहू ही आश्रय होगा, इसपर कहते हैं—"वाक्येनैव" इत्यादिसे । जुहूको प्रकृति-द्रव्यकी अपेक्षा होनेसे इसी वाक्यके द्वारा क्रतुके अंगरूपसे जुहूका प्रकृति द्रव्यके साथ सम्बन्ध विधेय होता है, पश्चात् निराकांक्ष जुहूका आश्रयण करके उसी प्रकृत द्रव्यका फलसंयोग विधेय होता है, ऐसा वाक्यभेद होगा, यह अर्थ है । पर्णता आदिसे

भाष्य

ण्यपि गोदोहनादीनि फलसंयोगादनित्यान्येवमुद्गीथाद्युपासनान्यपीति द्रष्टव्यम् । अत एव च कल्पसूत्रकारा नैवंजातीयकान्युपासनानि क्रतुषु कल्पयांचक्रुः ॥ ४२ ॥

भाष्यका अनुवाद

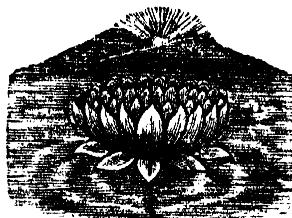
गोदोहन आदि फलसंयोगसे अनित्य हैं, ऐसे ही उद्गीथ आदि उपासनाएँ भी अनित्य हैं, ऐसा समझना चाहिए । इसीसे कल्पसूत्रकारोंने इस प्रकारकी उपासनाओंकी क्रतुओंमें कल्पना नहीं की है ॥ ४२ ॥

रत्नप्रभा

पर्णतादिवैलक्षण्यमुपासनानामाह—उपासनानां त्विति । स्वयं क्रियात्वाद् यागादिवत्फलविशिष्टत्वेन विधानोपपत्तिरित्यर्थः । तस्मादिति । अङ्गत्वावेदकमानाभावादित्यर्थः । अत एवेति । अनङ्गत्वादेवेत्यर्थः । तस्मादङ्गोपास्त्यभावेऽपि कर्माधिकार इति सिद्धम् ॥ ४२ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

उपासनाओंका वैलक्षण्य कहते हैं—"उपासनानां तु" इत्यादिसे । स्वयं क्रियात्मक होनेसे यागादिके समान फलविशिष्टरूपसे उपासना विधान उपपन्न होता है, ऐसा अर्थ है । "तस्मात्" इत्यादि । इससे—अङ्गत्व जनानेवाला प्रमाण न होनेसे । "अत एव" इत्यादि । अंग न होनेसे ही, यह अर्थ है । इससे अंगकी उपासनाके अभावमें भी कर्मका अधिकार है, ऐसा सिद्ध हुआ ॥ ४२ ॥



[२८ प्रदानाधिकरण सू० ४३]

एकीकृत्य पृथग्वा स्याद्वायुप्राणानुचिन्तनम् ।
तत्त्वाभेदात्तयोरेकीकरणेनाऽनुचिन्तनम् ॥ १ ॥
अवस्थाभेदतोऽध्यात्ममाधिदैवं पृथक् श्रुतेः ।
प्रयोगभेदो राजादिगुणकेन्द्रप्रदानवत्॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—वायु और प्राणका चिन्तन एकरूपसे करना चाहिए अथवा पृथक्रूपसे करना चाहिए ?

पूर्वपक्ष—उनकी—प्राण और वायुकी उपासना एकरूपसे करनी चाहिए, क्योंकि वे दोनों एक ही तत्त्व हैं ।

सिद्धान्त—अध्यात्म और अधिदैवरूप अवस्थाके भेदसे उनका पृथक् चिन्तन करना चाहिए, क्योंकि ऐसी श्रुति है, और राज आदि गुणवाले इन्द्रके प्रदानके समान प्रयोगका पार्थक्य भी उपपन्न हो सकता है ।

प्रदानवदेव तदुक्तम् ॥ ४३ ॥

पदच्छेद—प्रदानवत्, एव, तत्, उक्तम् ।

पदार्थोक्ति—प्रदानवत् 'यथेन्द्राय राज्ञे' इतीन्द्रदेवताया एकत्वेऽपि राजाधिराजादिगुणभेदेन तद्विशिष्टदेवताभेदात् पुरोडाशानां प्रदानस्य–प्रक्षेपस्य भेदः तद्वत् [एकस्यामपि विद्यायां वायुप्राणयोः स्वरूपाभेदेऽपि आध्यात्मिकाद्यवस्थाभेदेन गुणभेदात् [प्रयोगभेदः इति] तदुक्तम्–'नाना वा देवता' इत्यादिना जैमिनिना ।

भाषार्थ—'यथेन्द्राय राज्ञे' इससे उक्त इन्द्र देवताके एक होनेपर भी राजाधिराज आदि गुणके भेदसे उससे युक्त देवताका भेद होता है, वैसे एक विद्यामें भी वायु, प्राण आदि स्वरूपके अभेद होनेपर भी आध्यात्मिक आदि अवस्थाके भेदसे गुणभेद है, अतः प्रयोगभेद है, यह 'नाना वा' इत्यादि सूत्रसे जैमिनिने पूर्व काण्डमें कहा है ।

---

* संवर्गविद्यामें अधिदैव वायु और अध्यात्म प्राण उपास्यरूपसे सुने जाते हैं, इसपर पूर्वपक्षीका यह कहना है कि उन दोनोंका एकीकरण करके ही चिन्तन करना चाहिए, क्योंकि प्राण वायुका कार्य है, इससे दोनों एक ही तत्त्व हैं ।

भाष्य

वाजसनेयके—'वदिष्याम्येवाहमिति वाग्दध्रे' (बृ० १।५।२१) इत्यत्राऽध्यात्मं वागादीनां प्राणः श्रेष्ठोऽवधारितोऽधिदैवतमग्न्यादीनां वायुः। तथा छान्दोग्ये—'वायुर्वाव संवर्गः' (छा० ४।३।१) इत्यत्राधिदैवतमग्न्यादीनां वायुः संवर्गोऽवधारितः 'प्राणो वाव संवर्गः' (छा० ४।३।२) इत्यत्राऽध्यात्मं वागादीनां प्राणः। तत्र संशयः—किं पृथगेवेमौ वायुप्राणा-

भाष्यका अनुवाद

वाजसनेयकमें—'वदिष्याम्येवाहमिति' (मैं सदा बोलूँगी ही, ऐसा वाणीने व्रतधारण किया) यहांपर अध्यात्म वाक् आदिमें प्राण श्रेष्ठ है और अधिदैव अग्नि आदिमें वायु श्रेष्ठ है, ऐसा निश्चय किया गया है। उसी प्रकार छान्दोग्यमें 'वायुर्वाव संवर्गः' (वायु ही संवर्ग है, सबका संवर्जन अर्थात् संग्रहण या संग्रसन करनेसे) यहांपर अधिदेव अग्नि आदिका संग्रसन करनेवाला वायु है, ऐसा निश्चय किया गया है और 'प्राणो वाव संवर्गः' (मुख्य प्राण ही संवर्ग है) यहांपर अध्यात्म वाक् आदिमें प्राण संवर्ग है, ऐसा निश्चय किया गया है। यहांपर संशय होता कि इन वायु और प्राणको पृथक् ही समझना चाहिए या

रत्नप्रभा

प्रदानवदेव तदुक्तम्। वायुप्राणयोर्भेदाभेदवाक्याभ्यां संशयमाह—तत्रेति। अस्तु कर्माङ्गानां तत्सम्बन्धोपास्तीनां च फलभेदान्नित्यत्वानित्यत्वरूपः प्रयोगभेदः, इह तु वायुप्राणयोः स्वरूपाभेदात् तत्स्वरूपप्राप्तिलक्षणफलैक्याच्च ध्यानप्रयोगैक्यमि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"प्रदानवदेव तदुक्तम्" इति। वायु और प्राण इन दोनोंका भेद और अभेद बतलानेवाले वाक्यसे संशय कहते हैं—"तत्र" इत्यादिसे। पूर्व अधिकरणमें कर्मके अङ्गोंका और कर्मसम्बन्धी उपासनाओंका फलभेद होनेसे नित्यत्व और अनित्यत्वरूप प्रयोगभेद भले ही हो, इस अधिकरणमें तो वायु और प्राणका स्वरूपाभेद होने और उनके स्वरूपकी प्राप्तिरूप फलके एक होनेसे ध्यानप्रयोग

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती उत्तर देते हैं कि यद्यपि वे एक तत्त्व हैं, तथापि कार्यत्व और कारणत्वरूप अवस्थाका भेद होनेसे अध्यात्म और अधिदैवतरूपसे विवेचना करके भिन्नरूपसे अनुचिन्तन करना चाहिए, इस प्रकार भगवती श्रुति ही विवेक करती है। इससे इन्द्रप्रदानके समान प्रयोगभेद जानना चाहिए—जैसे 'इन्द्राय राज्ञे पुरोडाशमेकादशकपालम्, इन्द्रायाधिराजाय, इन्द्राय स्वराजाय' इससे इन्द्रके एक होनेपर भी राजा आदि गुणके भेदसे भिन्न-भिन्न पुरोडाश प्रदान होता है। ठीक इसी तरह वायुतत्त्वके एक होनेपर भी स्थानके भेदसे पृथक् चिन्तन हो सकेगा।

भाष्य

बुध्यन्तव्यौ स्यातामपृथग्वेति । अपृथगेवेति तावत् प्राप्तं तत्त्वाभेदात् । नह्यभिन्ने तत्त्वे पृथगनुचिन्तनं न्याय्यम् । दर्शयति च श्रुतिरध्यात्ममधिदैवतं च तत्त्वाभेदम्—'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' (ऐ० २।४) इत्यारभ्य तथा 'त एते सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ताः' (बृ० १।५।१३) इत्याध्यात्मिकानां प्राणानामाधिदैविकीं विभूतिमात्मभूतां दर्शयति । तथाऽन्यत्रापि तत्र तत्राध्यात्ममधिदैवतं च बहुधा तत्त्वाभेददर्शनं भवति । क्वचिच्च 'यः प्राणः स वायुः' इति विस्पष्टमेव वायुं प्राणं चैकं करोति ।

भाष्यका अनुवाद

अपृथक् समझना चाहिए ?

पूर्वपक्षी—अपृथक् ही समझना चाहिए, क्योंकि स्वरूपका अभेद है, यदि तत्त्व अभिन्न—एक हो, तो उसका पृथक् अनुचिन्तन करना ठीक नहीं है । श्रुति भी—'अग्निर्वाग्भूत्वा०' (अग्नि वाग् इन्द्रियकी अभिमानी देवता वाक् होकर—वागिन्द्रियमें अन्तर्भाव पाकर मुखच्छिन्द्रमें प्रविष्ट हुई) ऐसा आरम्भ करके अध्यात्म और अधिदैवत तत्त्वोंका अभेद दिखलाती है । और 'त एते सर्व एव०' (ये वाक्, मन और प्राण सभी तुल्य हैं, अध्यात्म और अधिभूत सम्पूर्ण जगत् इन तीनोंसे व्याप्त है, इन तीनोंसे अतिरिक्त कार्यात्मक या कारणात्मक कुछ नहीं है, ये सब अनन्त हैं) यह श्रुतिवचन आधिदैविक विभूति आध्यात्मिक प्राणोंकी आत्मभूत है, ऐसा दिखलाती है । इसी प्रकार अन्यत्र भी अध्यात्म और अधिदैवत तत्त्वका बहुधा अभेद देखा जाता जाता है । और कहींपर 'यः प्राणः स वायुः' (जो प्राण है वह वायु है) इस प्रकार स्पष्टरूपसे ही प्राण और वायुमें

रत्नप्रभा

ति पूर्वपक्षयति—अपृथगिति । 'अग्निर्वाग् भूत्वा' इत्यारभ्य 'वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशद्' इत्यभेदं दर्शयतीत्यर्थः । 'यतश्चोदेति सूर्यस्तं वद' इति प्रश्ने सूत्रात्मकवायुर्वाच्यः, वायुस्थाने प्राणं वदन्नेकत्वं तयोर्दर्शयतीत्याह—तथेति ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

एक ही होगा, ऐसा पूर्वपक्ष करते हैं—"अपृथक्" इत्यादिसे । 'अग्निर्वाग् भूत्वा' (अग्नि वाणी होकर) इस प्रकार आरम्भ करके 'वायुः प्राणो भूत्वा०' (वायु प्राण होकर नासिकामें प्रविष्ट हुआ) ऐसी श्रुति वायु और प्राणका अभेद दिखलाती है, ऐसा अर्थ है । 'यतश्चोदेति सूर्यस्तं वद' (जिससे सूर्य उदित होता है, उसको कहो) इस प्रश्नमें सूत्रात्मक वायु वाच्य है और 'प्राणाद्वा एष उदेति' (प्राणसे यह उदित होता है) इसमें वायुके स्थानमें प्राणको कहती हुई श्रुति वायु और प्राणका ऐक्य दिखलाती है, ऐसा कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे । किंच, वायु और

भाष्य

तथोदाहृतेऽपि वाजसनेयिब्राह्मणे 'यतश्चोदेति सूर्यः' (बृ० १।५।२३) इत्यस्मिन् उपसंहारश्लोके 'प्राणाद्वा एष उदेति प्राणेऽस्तमेति' (बृ० १।५।२३) इति प्राणेनैवोपसंहरन्नेकत्वं दर्शयति । 'तस्मादेकमेव व्रतं चरेत् प्राण्याच्चैवापान्याच्च' (बृ० १।५।२३) इति च प्राणव्रतेनैकेनोपसंहरन्नेतदेव द्रढयति । तथा छान्दोग्येऽपि परस्तात् 'महात्मनश्चतुरो देव

भाष्यका अनुवाद

अभेद दिखलाती है । उसी प्रकार उदाहृत वाजसनेयी ब्राह्मणमें भी 'यतश्चोदेति सूर्यः' (जिससे—जिस वायुसे सूर्यका उदय होता है) इसमें 'प्राणाद्वा एष उदेति०' (प्राणसे यह उदित होता है, प्राणमें अस्त होता है) इस उपसंहार-श्लोकमें प्राणसे ही उपसंहार करके [प्राण और वायुमें] अभेद दिखलाती है । 'तस्मादेकमेव व्रतम्०' (इसलिए एक ही व्रत करे, प्राणनव्यापार करे और और अपानव्यापार करे) इस प्रकार एक प्राणव्रतसे उपसंहार करके इसको ही दृढ़ करती है । इसी प्रकार छान्दोग्यमें भी आगे 'महात्मनश्चतुरो देव एकः'

रत्नप्रभा

किञ्च, यदि वायुप्राणयोः पृथग् ध्यानं स्यात् , तर्हि ध्यानाङ्गव्रतभेदोऽपि स्यात् , इह तु प्राणापाननिरोधात्मकव्रतैक्यश्रुतेर्ध्यानैक्यमित्याह—तस्मादिति । व्रतैक्यस्य प्रशस्तत्वादित्यर्थः । किञ्च, वायुप्राणौ संवर्गौ भेदेनोपक्रम्य परस्ताद्वाक्यशेषे संवर्गदेवैक्यश्रुतेः प्रयोगैक्यमित्याह—तथेति । महात्मन इति द्वितीयाबहु-वचनम् । चतुरः चतुःसंख्याकान्—अग्निसूर्यदिक्चन्द्रानपरांश्च वाक्चक्षुः-श्रोत्रमनोरूपान् एको देवः कः—प्रजापतिः जगार—गीर्णवान्—उपसंहृतवा-नित्यर्थः । न ब्रवीति भेदमिति शेषः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्राणका पृथक् ध्यान हो, तो ध्यानके अंगका व्रत भी भिन्न होगा, परन्तु यहां तो प्राणका और अपानका निरोधरूप एक ही व्रत श्रुति कहती है, अतः ध्यान एक ही है, ऐसा कहते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे । व्रतके ऐक्यके प्रशस्त होनेसे, ऐसा अर्थ है । इसी प्रकार वायु और प्राण संवर्ग हैं, ऐसा वायु और प्राणके अभेदसे उपक्रम करके पीछे वाक्यशेषमें संवर्गदेव एक ही है, ऐसा श्रुति कहती है, इसलिए प्रयोगका ऐक्य है, ऐसा कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे । 'महात्मनः' यह द्वितीयाका बहुवचन है । चतुरः—चार—अग्नि, सूर्य, दिक् और चन्द्र, और दूसरे चार—वाक्, चक्षु, श्रोत्र और मन । इन चार महात्माओंका एक देवता अर्थात् प्रजापतिने उपसंहार किया, ऐसा अर्थ है । 'न ब्रवीति' यहांपर 'भेदम्' इतना शेष है ।

भाष्य

एकः कः स जगार भुवनस्य गोपाः' (छा० ४।३।६) इत्येकमेव संवर्गं गमयति न ब्रवीत्येक एकेषां चतुर्णां संवर्गोऽपरोऽपरेषामिति। तस्मादपृथक्त्वमुपगमनस्येति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—पृथगेव वायुप्राणावुपगन्तव्याविति। कस्मात्? पृथगुपदेशात्। आध्यानार्थो ह्ययमध्यात्माधिदैवविभागोपदेशः सोऽसत्याध्यानपृथक्त्वेऽनर्थक एव स्यात्। ननूक्तं न पृथगनुचिन्तनं तत्त्वाभेदा-

भाष्यका अनुवाद

(चार [अग्नि, सूर्य, दिक् और चन्द्र; और वाक्, चक्षु, श्रोत्र, और मन] महात्माओंका एक प्रजापति देव उपसंहार कर गया और वह भुवनका रक्षक है) यह श्रुति संवर्ग एक ही है, ऐसी प्रतीति कराती है, श्रुति इन चारोंका यहां एक संवर्ग है, और दूसरे चारोंका दूसरा संवर्ग है, ऐसा नहीं कहती, इसलिए ध्यान पृथक् नहीं है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—वायु और प्राणका पृथक् ही चिन्तन करना युक्त है। किससे? पृथक् उपदेश होनेसे, क्योंकि अध्यात्म और अधिदेव विभागोंका यह उपदेश आध्यानके लिए है आध्यान पृथक् न हो, तो यह उपदेश अनर्थक ही होगा। परन्तु पृथक् अनुचिन्तन नहीं है, क्योंकि तत्त्वका

रत्नप्रभा

यथा "अग्निहोत्रं जुहोति" इत्युत्पन्नाग्निहोत्रस्यैकस्यैव दधितण्डुलादिगुणभेदेन सायम्प्रातःकालभेदेन प्रयोगभेदः, तथा 'अन्नादो भवति य एवं वेद' (तै० ३।९।१) इत्युत्पन्नायाः संवर्गविद्याया एकत्वेऽप्युत्पन्नशिष्टवायुप्राणाख्यगुणभेदात् प्रयोगभेद इत्युत्सूत्रं सिद्धान्तयति—पृथगेवेति। 'तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ' (छा ४।३।३) इत्युपास्यभेदवाक्यस्य प्रयोगभेदपरत्वाद् वाक्यादेव भेदसिद्धिरित्यर्थः। पूर्वपक्ष्युक्तमनूद्य प्रत्याह—ननूक्तमित्यादिना। उपास्यतया

रत्नप्रभाका अनुवाद

जैसे 'अग्निहोत्रं जुहोति' से उत्पन्न एक ही अग्निहोत्रका दधितण्डुल आदि भेदसे सायंकाल और प्रातःकालके भेदसे प्रयोगभेद है, 'वैसे अन्नादो भवति य एवं वेद' (जो ऐसा जानता है वह अन्नका उपयोग करनेवाला होता है) इस प्रकार उत्पन्न संवर्गविद्या एक है, तो भी उत्पन्नविशिष्ट वायु और प्राणसंज्ञक गुणोंका भेद होनेसे प्रयोगका भेद है, ऐसा सूत्रके बाहर सिद्धान्त करते हैं—"पृथगेव" इत्यादिसे। 'तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ' (वे ये दो संवर्ग हैं—ग्रसन करनेवाले हैं) यह उपास्य-भेदवाक्य प्रयोगभेद बतलाता है, इस वाक्यसे ही भेद

भाष्य

दिति। नैष दोषः। तत्त्वाभेदेऽप्यवस्थाभेदादुपदेशभेदवशेनाऽनुचिन्तनभेदोपपत्तेः। श्लोकोपन्यासस्य च तत्त्वाभेदाभिप्रायेणाऽप्युपपद्यमानस्य पूर्वोदितध्येयभेदनिराकरणसामर्थ्याभावात्। 'स यथैषां प्राणानां मध्यमः प्राण एवमेतासां देवतानां वायुः' (बृ० १।५।२२) इति चोपमानोपमेयकरणात्। एतेन व्रतोपदेशो व्याख्यातः। 'एकमेव व्रतम्' (बृ० १।५।२३) इति चैवकारो वागादिव्रतनिवर्तनेन प्राणव्रतप्रतिपत्त्यर्थः। भग्नव्रतानि हि

भाष्यका अनुवाद

अभेद है, ऐसा कहा है। नहीं, यह दोष नहीं है, क्योंकि यद्यपि तत्त्वका अभेद है, तो भी अवस्थाभेदसे उपदेशका भेद होनेसे अनुचिन्तनका भेद उपपन्न होता है। और श्लोकका उपन्यास तो तत्त्वके अभेदके अभिप्रायसे उपपन्न होता है, उस उपन्यासमें पूर्वमें कहे गये ध्येयभेदका निराकरण करनेकी सामर्थ्य नहीं है, क्योंकि 'स यथैषां प्राणानाम्०' (जैसे वाक् आदि इन प्राणोंमें प्राण मध्यम है, वैसे इन अग्नि आदि देवताओंमें वायु मध्यम है) इस प्रकार उपमान और उपमेय करनेसे ध्येयका भेद ही है। इस कथनसे व्रतके उपदेशका भी व्याख्यान हुआ। 'एकमेव व्रतम्' ([इसलिए] एक ही व्रत करना चाहिए) इसमें एवंकार वाक्

रत्नप्रभा

प्रधानभूतसंवर्गगुणविशिष्टोपास्यभेदवाक्यविरोधादनुपास्यवायुतत्त्वैक्यवाक्यं न प्रयोगैक्यप्रापकमिति भावः। सूर्योदयास्तमययोर्वाय्वधीनत्वात् तदभेदाभिप्रायेण प्राणावुक्तौ। ततोऽध्यात्माधिदैवावस्थाभेदेनोक्तस्य ध्येयभेदस्य निरासे 'यतश्चोदेति' इति श्लोकस्य न शक्तिरित्याह—श्लोकेति। असामर्थ्ये लिङ्गमाह—स यथेति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

सिद्ध होता है, ऐसा अर्थ है। पूर्वपक्षी द्वारा की गई शंकाका अनुवाद करके निराकरण करते हैं—"ननूक्तम्" इत्यादिसे। प्रधानभूत संवर्गगुणसे विशिष्ट वायु और प्राण ये दो धर्मी उपास्यरूपसे भिन्न होनेसे संवर्गगुणविशिष्ट उपास्यका भेद बतानेवाला [तौ वा एतौ संवर्गौ] यह जो वाक्य है, उसके साथ भेद होनेसे अनुपास्य वायुतत्त्वका भेद बतानेवाले [य प्राणः स वायुः] इत्यादि वाक्य प्रयोगका ऐक्य प्राप्त नहीं कराते, ऐसा तात्पर्य है। सूर्यका उदय और अस्त वायुके अधीन होनेसे और प्राण वायुसे अभिन्न है इस अभिप्रायसे प्राणसे सूर्यका उदय और अस्त कहा गया है, इसलिए अध्यात्म और अधिदैव इस अवस्थाभेदसे कहे गये ध्येयभेदका निरसन करनेमें 'यतश्चोदेति सूर्यः' इस श्लोककी शक्ति नहीं है, ऐसा कहते हैं—"श्लोक" इत्यादिसे। असामर्थ्यमें लिंग कहते हैं—"स यथा" इत्यादिसे। श्लोकके उपन्यासके

भाष्य

वागादीन्युक्तानि 'तानि मृत्युः श्रमो भूत्वोपयेमे' (बृ० १।५।२१) इति श्रुतेः, न वायुव्रतनिवृत्त्यर्थः 'अथातो व्रतमीमांसा' (बृ० १।५।२१) इति

भाष्यका अनुवाद

आदिका व्रत निवृत्त करके प्राणव्रतकी प्रतिपत्तिके लिए है, क्योंकि वाक् आदि भग्नव्रत कहे गये हैं 'तानि मृत्युः श्रमो०' (मृत्युने श्रमरूप होकर उन इन्द्रियोंका संग्रहण किया) ऐसी श्रुति होनेसे, परन्तु वह एवकार वायुव्रतकी निवृत्तिके लिए नहीं है, क्योंकि 'अथातो व्रतमीमांसा' (अब व्रतकी मीमांसा—उपासनाकर्मका विचार होता है) ऐसा उपक्रम करके वायु और प्राणका समानरूपसे अभग्न-

रत्नप्रभा

श्लोकोपन्यासवद् व्रतैक्योपन्यासोऽपि तत्त्वाभेदाभिप्रायेणेत्याह—**एतेनेति**। ननु एवकाराद् वायुव्रतनिवृत्तेः प्राण एवैको ध्येयो भातीत्यत आह—**एकमेवेति**। वदनदर्शनादीनि वाक्चक्षुरादीनां व्रतानि श्रमरूपमृत्युना भग्नानीत्युक्त्वा प्राणस्य अभग्नव्रतत्वं निर्धारितम्,तथा ज्वलनतापादीनि अग्न्यादित्यादीनां व्रतानि भग्नानीत्युक्त्वा वायोरभग्नव्रतत्वं निर्धारितम्। 'स यथैषां प्राणानां मध्यमः प्राणः स्थिरव्रतः एवमेतासां देवतानां वायुः लोचन्ति ह्यन्या देवता न वायुः सैषाऽनस्तमिता देवता यद्वायुः' (बृ० १।५।२२) इति श्रुतेः। अतो भग्नव्रतनिरासार्थं

रत्नप्रभाका अनुवाद

समान व्रतैक्यका उपन्यास भी तत्त्वाभेदके अभिप्रायसे है, ऐसा कहते हैं—"एतेन" इत्यादिसे। परन्तु 'एकमेव व्रतम्' इसमें एवकारसे ही वायुव्रतकी निवृत्ति होनेसे प्राण ही अकेला ध्येय है, ऐसा प्रतीत होता है, ऐसा कहते हैं—"एकमेव" इत्यादिसे। वाक्, चक्षु आदिके वदन, दर्शन आदि व्रत श्रमरूप मृत्युसे भग्न होते हैं, ऐसा कहकर प्राणका व्रत अभग्न है, ऐसा निर्धारण किया गया है, इसी प्रकार अग्नि, आदित्य आदिके ज्वलन, तापन आदि व्रत भग्न होते हैं, ऐसा कहकर वायुका व्रत अभग्न है, ऐसा निर्धारण किया है, क्योंकि 'स यथैषां प्राणानां मध्यमः०' (जैसे अध्यात्म वाक् आदि प्राणोंमें वह मध्यम प्राण मृत्युसे आक्रान्त न होकर अपने कर्मसे प्रच्यावित नहीं होता और उसका प्राणव्रत अभग्न रहता है, वैसे इन अग्नि आदि देवताओंमें वायु भी है, क्योंकि अग्नि आदि अन्य देवता अध्यात्म वाक् आदिके समान अस्त होते हैं—अपने कर्मसे उपरत होते हैं, परन्तु वायु मध्यम प्राणके समान अस्त नहीं होता, इस कारणसे यह वायु अस्त न होनेवाला देवता है। इस प्रकार अध्यात्म अधिदैवका विचार करके प्राणका और वायुका व्रत अभग्न है, ऐसा निर्धारण किया है) ऐसी श्रुति है, अतः भग्नव्रतका निराकरण करनेके लिए एवकार है,

भाष्य

प्रस्तुत्य तुल्यवद्वायुप्राणयोरभग्नव्रतत्वस्य निर्धारितत्वात्। 'एकमेव व्रतं चरेत्' (बृ० १।५।२३) इति चोक्त्वा तेनो एतस्यै देवतायै सायुज्यं सलोकतां जयति' (बृ० १।५।२३) इति वायुप्राप्तिं फलं ब्रुवन् वायुव्रतमनिवर्तितं दर्शयति। देवतेति अत्र वायुः स्यादपरिच्छिन्नात्मत्वस्य प्रेप्सितत्वात्, पुरस्तात् प्रयोगाच्च 'सैषाऽनस्तमिता देवता यद्वायुः' (बृ० १।५।२२) इति। तथा 'तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ वायुरेव देवेषु प्राणः प्राणेषु' (छा० ४।३।४) इति भेदेन व्यपदिशति। 'ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये दश सन्तस्तत्कृतम्'

भाष्यका अनुवाद

व्रतत्व है, ऐसा निर्धारण किया गया है। उसी प्रकार 'एकमेव व्रतं चरेत्' (एक ही व्रत करे) ऐसा कहकर 'तेनो एतस्यै देवतायै०' (उस व्रतसे इस प्राणदेवताके साथ एकात्मता और एकस्थानत्व प्राप्त करता है) यह श्रुति वायुप्राप्तिको फल कहती हुई वायुव्रत निवृत्त नहीं हुआ—ऐसा दिखलाती है। यहांपर देवता वायु ही है, क्योंकि अपरिच्छिन्नात्मकत्व अभीष्ट है और 'सैषाऽनस्तमिता०' (जो यह वायु है वह अस्त न होनेवाली देवता है) पीछे ऐसा प्रयोग किया गया है, अतः वायु देवता है। उसी प्रकार श्रुति 'तौ वा एतौ द्वौ' (ये दो संवर्ग हैं, देवताओंमें वायु ही संवर्ग है और वाक् आदि प्राणोंमें मुख्य प्राण संवर्ग है) इस प्रकार भेदसे व्यपदेश करती है, और 'ते वा एते पञ्चान्ये०' (जिनका ग्रास होता है,

रत्नप्रभा

एवकारो न वायुव्रतनिवृत्त्यर्थः। अत्रैवाऽर्थे लिङ्गमाह—एकमिति। उकारः चार्थः। तेन व्रतेन वायोः सायुज्यम्—समानदेहत्वं सलोकतां च जयतीत्यर्थः। नन्वत्र वायुप्राप्तिर्न श्रुतेत्यत्राह—देवतेति। तस्मात् तत्त्वाभेददृष्ट्या व्रतैक्यमिति स्थितम्। सम्प्रति पूर्वोक्तं पृथगुपदेशं विवृणोति—तथा तौ वा इति। सौत्रं दृष्टान्तं

रत्नप्रभाका अनुवाद

वायुव्रतकी निवृत्ति करनेके लिए नहीं है, ऐसा अर्थ है। इसी अर्थमें लिंग कहते हैं—"एवम्" इत्यादिसे। 'तेनो एतस्यै' इत्यादि। तेन+उ=तेनो, इसमें उकार चकारके अर्थमें है अर्थात् उकार समुच्चयार्थक है। इस व्रतसे वायुके सायुज्यको—समानदेहताको और सलोकता—समानलोकताको भी प्राप्त करता है, ऐसा अर्थ है। यदि कोई कहे कि यहांपर वायुकी प्राप्ति श्रुतिमें नहीं कही गई है, तो इसपर कहते हैं—"देवता" इत्यादिसे। इसलिए तत्त्वके अभेदकी दृष्टिसे व्रतकी एकता कही गई है, ऐसा सिद्ध हुआ। अब पूर्वोक्त पृथक् उपदेशका विवरण करते हैं—"तथा तौ वा" इत्यादिसे। सूत्रमें दिये गये दृष्टान्तका व्याख्यान करते हैं—

भाष्य

(छा० ४।३।८) इति च भेदेनैवोपसंहरति । तस्मात् पृथगेवोपगमनम् । प्रदानवत्—यथा 'इन्द्राय राज्ञे पुरोडाशमेकादशकपालमिन्द्रायाऽधिराजायेन्द्राय स्वराज्ञे' इत्यस्यां त्रिपुरोडाशिन्यामिष्टौ 'सर्वेषामभिगमयन्नवद्यत्यच्छंवट्कारम्' इति अतो वचनादिन्द्राभेदाच्च सहप्रदानाशङ्कायाम्, राजादिगुण-

भाष्यका अनुवाद

ऐसे अग्नि आदि चार और उनका ग्रास करनेवाला वायु ये पांच वाक् आदिसे अन्य, और उनसे भिन्न जो पांच अध्यात्म, वाक् आदि चार और प्राण, वे सब दश होकर कृत हैं) इस प्रकार भेदसे ही उपसंहार करती है । इसलिए प्राण और वायुका पृथक् ही अनुचिन्तन करे । प्रदानके समान—जैसे 'इन्द्र राजाके लिए, इन्द्र अधिराजके लिए और इन्द्र स्वराजके लिए ग्यारह कपालवाला पुरोडाश इस तीन पुरोडाशवाली इष्टिमें 'सब देवताओंको हवि प्राप्त करानेके लिए एक साथ ही पुरोडाशोंका अवदान करता है—इस वचनसे और इन्द्रका अभेद होनेसे सहप्रदानकी आशङ्का होनेपर राजा आदि (राजा, अधिराज, स्वराज) गुणभेदसे

रत्नप्रभा

व्याचष्टे—**प्रदानवदिति** । त्रयः पुरोडाशाः अस्याः सन्तीति—**त्रिपुरोडाशिनी** । इष्टिः, तस्यां किं सह प्रदानम्, उत भेदेनेति सन्देहे पूर्वपक्षमाह—**सर्वेषामिति** । सर्वेषां देवानामाभिमुख्येन प्रापयन् हविः अवद्यति गृह्णाति अच्छं वट्कारं वषट्काराख्यदेवभागमित्यर्थः । यद्वा, सर्वदेवार्थं युगपदवदानं कार्यमित्यत्र हेतुः—अच्छं वट्कारमिति । अन्यर्थत्वायेत्यर्थः । एकार्थम् अवत्ते हविषि शेषो यागानर्हतया वृथा स्यादिति भावः ।

एवं सहावदानश्रुतेर्देवैक्याच्च पुरोडाशानां सहप्रक्षेपे प्राप्ते पृथक्प्रक्षेप इति सिद्धान्तमाह—**राजेति** । राजाधिराजस्वराजगुणभेदेन विशिष्टदेवताभेदादित्यर्थः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

''प्रदानवत्'' इत्यादिसे । तीन पुरोडाश हैं जिसमें, वह त्रिपुरोडाशिनी कहलाती है, उस तीन पुरोडाशवाली इष्टिमें सहप्रदान इष्ट है या भेदसे प्रदान इष्ट है, ऐसा सन्देह होनेपर पूर्वपक्ष कहते हैं—''सर्वेषाम्'' इत्यादिसे । सब देवताओंके अभिमुख प्राप्त कराते हुए हविष्का अवदान करता है अर्थात् वषट्कारनामक देवभागका ग्रहण करता है । अथवा सब देवताओंके लिए एक साथ ही अवदान करना चाहिए, इसपर हेतु है—अच्छ वट्कार, अर्थात् अन्यर्थताके लिए । एकके लिए प्रवृत्त किये गये—भाग किये गये हविमें शेष यागके अयोग्य होनेसे वृथा होगा, ऐसा आशय है इस प्रकार एक साथ अवदानकी श्रुति होनेसे और देवताके एक होनेसे

भाष्य

भेदाद्याज्यानुवाक्याव्यत्यासविधानाच्च यथान्यासमेव देवतापृथक्त्वात् प्रदान-पृथक्त्वं भवति। एवं तत्त्वाभेदेऽप्याध्येयांशपृथक्त्वादाध्यानपृथक्त्व-मित्यर्थः। तदुक्तं संकर्षे 'नाना वा देवता पृथग्ज्ञानात्' (जै० सू०) इति। तत्र तु द्रव्यदेवताभेदाद् यागभेदो विद्यते नैवमिह विद्याभेदोऽस्ति। उपक्रमो-

भाष्यका अनुवाद

और याज्या और अनुवाक्याके व्यत्याससे विधान होनेसे लेखक्रमके अनुसार ही देवताके पृथक् होनेसे प्रदान पृथक् है। इसी प्रकार तत्त्वको यद्यपि (वायु और प्राणमें) अभेद है, तो भी उपास्य अंशके एक न होनेसे उपासना पृथक् है, ऐसा भाव है। संकर्षकाण्डमें कहा है—'नाना वा देवता०' (देवता भिन्न-भिन्न हैं, क्योंकि उनका पृथक् ज्ञान होता है)। वहांपर तो द्रव्य और देवताके भेदसे

रत्नप्रभा

किञ्चाऽध्वर्युणा 'यज' इति प्रैषे कृते होत्रा यो मन्त्रः पठ्यते, सा याज्या 'अनुब्रूहि' इति प्रैषानन्तरमन्त्रः पुरोऽनुवाक्येति भेदोऽस्ति। तत्राऽस्यामिष्टौ प्रथमपुरोडाश-प्रदाने या क्लृप्ता याज्या सा द्वितीयप्रदाने पुरोऽनुवाक्या, या च पूर्वमनुवाक्या सा पश्चात् याज्येति 'व्यत्यासमन्वाह' इति श्रुत्या विधानात्, यथाश्रुति प्रक्षेपपृथ-क्त्वमित्याह—याज्येति। संकर्षः—देवताकाण्डम्। वाशब्दः अवधारणे। नानैव देवता राजादिगुणभेदेन भेदावगमादिति सूत्रार्थः। दृष्टान्ते देवताभेदात् कर्मभेदवद् विद्याभेदः स्यादित्यत आह—तत्र त्विति। कर्मोत्पत्तिवाक्यस्थदेवताभेदः कर्मभेद

रत्नप्रभाका अनुवाद

पुरोडाशका सहप्रक्षेप प्राप्त होनेपर पृथक् आक्षेप है, ऐसा सिद्धान्त करते हैं—"राजा" इत्यादिसे। राजा, अधिराज और स्वराज्य विशेषणके भेदसे विशिष्ट देवताके भिन्न होनेसे, ऐसा अर्थ है। अध्वर्युके 'यज' (यज्ञ करो) ऐसी आज्ञा करनेपर होतासे जो मन्त्र पढ़ा जाता है वह याज्या है, 'अनुब्रूहि' इस आज्ञाके अनन्तरका मन्त्र पुरोऽनुवाक्या है, ऐसा भेद है। तीन पुरोडाशवाली इष्टिमें प्रथम पुरोडाशके प्रदानमें जो याज्यारूपसे निर्णीत है वह द्वितीयप्रदानमें अनुवाक्या है और जो पूर्वमें अनुवाक्या है वह पीछे याज्या होती है, क्योंकि 'व्यत्यास०' (व्यत्याससे कहते हैं) ऐसा श्रुति विधान करती है, इसलिए श्रुतिके अनुसार पृथक् प्रक्षेप है, ऐसा कहते हैं—"याज्या" इत्यादिसे। संकर्ष—देवताकाण्ड। 'नाना वा देवता पृथग्ज्ञानात्' इसमें वाशब्द अवधारणवाचक है। देवता पृथक् है, क्योंकि राजा आदि गुणोंके भेदसे भेद समझा जाता है, ऐसा सूत्रका अर्थ है। जैसे दृष्टान्तमें देवताभेदसे कर्मका भेद है, वैसे विद्याभेद होगा, इसपर कहते हैं—"तत्र तु"

भाष्य

पसंहाराभ्यामध्यात्माधिदैवोपदेशेष्वेकविद्याविधानप्रतीतेः । विद्यैक्येऽपि त्वध्यात्माधिदैवभेदात् प्रवृत्तिभेदो भवति, अग्निहोत्र इव सायंप्रातःकाल-भेदात् । इत्येतावदभिप्रेत्य प्रदानवदित्युक्तम् ॥ ४३ ॥

भाष्यका अनुवाद

यागभेद है, यहांपर ऐसा विद्याभेद नहीं है, क्योंकि उपक्रम और उपसंहारसे अध्यात्म और अधिदैव उपदेशोंमें एक विद्याका विधान प्रतीत होता है। जैसे सायंकाल और प्रातःकालका भेद होनेसे अग्निहोत्रमें प्रवृत्तिका भेद है, वैसे ही विद्याके एक होनेपर भी अध्यात्म और अधिदैवभेदसे प्रवृत्तिका भेद है। इस अभिप्रायसे 'प्रदानके समान' ऐसा कहा है ॥ ४३ ॥

रत्नप्रभा

हेतुः, इह तु 'अन्नादो भवति य एवं वेद' इत्युत्पत्तावेकत्वेन ज्ञातविद्यायाः पश्चात् श्रुतवायुप्राणभेदो न भेदकः, अग्निहोत्रस्येव दध्यादिद्रव्यभेद इत्यर्थः । तर्हि केनांशेन प्रदानस्य दृष्टान्तत्वमित्यत आह—विद्यैक्येऽपीति । अवस्थाभेदाद् देवताभेदः प्रयोगभेदश्चेत्यंशेनायं दृष्टान्त इत्यर्थः ॥ ४३ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। कर्मोत्पत्तिवाक्यमें स्थित देवताभेद कर्मभेदमें हेतु होता है यहां तो 'अन्नादो भवति य एवं वेद' इस प्रकार उत्पत्तिमें एक ही है, ऐसा ज्ञात विद्याका पीछेसे श्रुतिद्वारा कथित वायुप्राणभेद भेदक नहीं होता, जैसे कि दधि आदि द्रव्यभेद अग्निहोत्रका भेदक नहीं होता है, ऐसा अर्थ है। तब किस अंशमें प्रदानदृष्टान्त होता है, इसपर कहते हैं—"विद्यैक्येऽपि" इत्यादिसे अवस्थाके भेदसे देवता और प्रयोगका भेद है, इस अंशमें दृष्टान्त है, ऐसा अर्थ है ॥ ४३ ॥



[२९ लिङ्गभूयस्त्वाधिकरण सू० ४४-५२]

कर्मशेषाः स्वतन्त्रा वा मनश्चित्प्रमुखाग्नयः ।
कर्मशेषाः प्रकरणाल्लिंग त्वन्यार्थदर्शनम् ॥१॥
उन्नेयाविधिगाल्लिंगादेव श्रुत्या च वाक्यतः ।
बाध्यं प्रकरणं तस्मात् स्वतन्त्रं वह्निचिन्तनम्* ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—मनश्चित् प्रभृति जो अग्नियां हैं, वे कर्मशेष—कर्माङ्ग हैं या स्वतन्त्र हैं।

पूर्वपक्ष—प्रकरणके बलसे वे कर्माङ्ग ही हैं, और लिङ्ग प्रमाण तो अन्यार्थ दर्शनरूप है।

सिद्धान्त—उन्नेय—गृहीत विधिगत लिङ्गसे और श्रुतिसे एवं वाक्य प्रमाणसे प्रकरणका बाध होनेसे स्वतन्त्र ही उन वह्नियोंका चिन्तन है।

---

* भाव यह है कि अग्निरहस्यके किसी ब्राह्मणमें इस प्रकार श्रुति देखी जाती है—'षट्त्रिंशत्सहस्राण्यपश्यदात्मनोऽग्नीनर्कोन्मनोमयान्मनश्चितः' इति। इसका अर्थ है—शत वर्ष परिमित पुरुषकी आयुमें छत्तीस हजार दिन होते हैं, उसमें एक एक दिनमें जो मनोवृत्ति है, उसका एक एक अग्निरूपसे ध्यान किया जाय, तो छत्तीस हजार अग्नियां सम्पन्न होंगी। उन अग्नियोंका प्रत्यगात्मस्वरूपसे ध्यान करना चाहिए, उन्हींकी पूजा करनी चाहिए, मनसे सम्पन्न होते हैं, इसलिए उनको मनश्चित् कहते हैं, इसी प्रकार वाक्चित्, प्राणचित् और चक्षुश्चित्, इत्यादि। इन अग्नियोंका अग्निचयनके प्रकरणमें पाठ होनेसे ये कर्मशेष ही है; स्वतन्त्र विद्यात्मक नहीं हैं, यदि शङ्का हो कि लिङ्ग प्रमाणके प्रभावसे स्वतन्त्र विद्यात्मक हो सकेंगे क्योंकि 'तान् हैतानेवंविदे सर्वदा सर्वाणि भूतानि चिन्वन्त्यपि स्वपते' इस प्रकार वाक्यशेषमें पढ़ा गया है, और इसका अर्थ है—सोये हुए उपासककी अग्नियां विछिन्न नहीं हुई। स्वकीय मन, वाक् आदि वृत्तियोंका उपरम होनेपर भी बुद्ध पुरुषके मन, वाक् आदिकी वृत्तियां सर्वदा प्रवृत्त होती ही हैं, क्योंकि साधारणरूपसे पुरुषके मन आदिकी वृत्तियोंमें अग्नित्वका उपवर्णन है इससे—इस प्रकार जाननेवालेके सोनेपर भी अग्नियोंका सर्वदा सब भूत चयन करते हैं। यहाँ जीवनपर्य्यन्त अग्निके साथ विच्छेद नहीं होनेके कारण नैरन्तर्य प्रतीत होता है, और वह (उनकी) स्वतन्त्र विद्यामें लिङ्ग है। और वह प्रकरणसे बलवान् है, इसलिए अग्नियां स्वतन्त्र ही हैं यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि अन्यार्थ दर्शनरूप होनेसे यह लिङ्गप्रमाण दुर्बल है। लिङ्ग दो प्रकारका होता है—सामर्थ्यरूप और अन्यार्थदर्शनरूप। उसमें विधि देशगत जो लिङ्ग होता है, वह सामर्थ्य है, और वह स्वतन्त्र प्रमाण है, अर्थवादगत लिङ्ग तो अन्यशेषवाक्यमें दृश्यमान होनेसे अन्यार्थ दर्शन कहा जाता है, वह तात्पर्य्यरहित होनेके कारण स्वतन्त्रमें प्रमाण नहीं है, किन्तु प्रमेयके स्तावक अन्य प्रमाणमें केवल उपोद्बलक हो सकता है, इसलिए यहां उदाहृत लिङ्गके दुर्बल होनेसे प्रकरणप्रमाणसे मनश्चित् आदि कर्मशेष हैं।

लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि ॥ ४४ ॥

पदच्छेद—लिङ्गभूयस्त्वात्, तत्, हि, बलीयः, तद्, अपि ।

पदार्थोक्ति—[वाजसनेयकेऽग्निरहस्ये उक्ताः अग्नयः स्वतन्त्रा एव, कुतः ?] लिङ्गभूयस्त्वात्—'यत् किञ्चेमानि भूतानि' इत्यादिस्वातन्त्र्यप्रतिपादकानां लिङ्गानाम्—प्रमाणानां भूयस्वात्—आधिक्येन सत्त्वात् । तद्धि—लिङ्गप्रमाणं हि [प्रकरणापेक्षया] बलीयः—बलवत् तदपि—बलीयस्त्वमपि [पूर्वकाण्डे श्रुतिलिङ्गेत्यादिसूत्रे भगवता जैमिनिनोक्तम्, इति] ।

भाषार्थ—वाजसनेयकके अग्निरहस्यमें अग्नियाँ स्वतन्त्ररूपसे ही कही गयी हैं, क्योंकि 'यत् किञ्चेमानि भूतानि' इत्यादि अनेक लिङ्ग रूप प्रमाण स्वतन्त्रताके प्रतिपादक हैं, और प्रकरणादिकी अपेक्षासे लिङ्ग प्रमाण बलवान् भी है, उसके बलवान् होनेमें 'श्रुतिलिङ्ग' इत्यादिसूत्र पूर्वकाण्डमें भगवान् जैमिनि द्वारा कहा गया है।

भाष्य

वाजसनेयिनोऽग्निरहस्ये—'नैव वा इदमग्रे सदासीत्' इत्येतस्मिन् ब्राह्मणे मनोऽधिकृत्याऽधीयते 'तत्षट्त्रिंशत्सहस्राण्यपश्यदात्मनोऽग्नीनर्का-

भाष्यका अनुवाद

वाजसनेयी अग्निरहस्यमें 'नैव वा इदमग्रे०' (उत्पत्तिके पूर्वमें यह सब न सत् ही था [और न असत् था]) इस ब्राह्मणमें मनका विषय करके 'तत् षट्त्रिंशत्सहस्रा०' (उस मनने अपने अर्चनीय मनोवृत्तिभावित

रत्नप्रभा

लिङ्गभूयस्त्वात् । उत्पत्तेः प्राग् 'इदं सर्वं नैव सदासीन्नाप्यसत्' इति उपक्रम्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

"लिंगभूयस्त्वात्०" इत्यादि । उत्पत्तिके पूर्वमें यह सब दृश्यमान जगत् सत्स्वरूप भी नहीं

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं—यहाँ शब्दतः विधि उपलब्ध नहीं होती है, क्योंकि लिङ्, लोट् आदिका श्रवण नहीं है, किन्तु अर्थवादके सामर्थ्यसे विधिकी कल्पना करनी चाहिए, अतः फलके प्रतिपादक स्तावक वाक्योंका रात्रिसत्रन्यायसे अधिकारीके समर्पणमें पर्य्यवसान होनेसे यह ब्राह्मण विधिरूप होगा, इस कारणसे विध्युद्देशगत होनेसे लिङ्ग प्रबल है । किञ्च, 'ते हैते विद्याचितः एव' इस श्रुतिसे कर्माङ्गत्वकी व्यावृत्ति होती है, वैसे विद्यया हैवेत एवं विदश्चिता भवन्ति, इस प्रकारका बाध भी स्वातन्त्र्यका बोधक है । इससे श्रुति, लिङ्ग और वाक्यसे प्रकरणका बाध करके स्वतन्त्र विद्यात्मकत्व मनश्चिदादिको मानना चाहिए ।

भाष्य

न्मनोमयान्मनश्चितः इत्यादि । तथैव 'वाक्चितः प्राणचितश्चक्षुश्चितः श्रोत्रचितः कर्मचितोऽग्निचितः' इति पृथगग्नीनामनन्ति सांपादिकान् । तेषु

भाष्यका अनुवाद

होनेसे मनोमय मनश्चित् छत्तीस हजार अग्नियोंको देखा) इत्यादि कहते हैं । उसी प्रकार 'वाक्चितः प्राणचितश्चक्षुश्चितः' (वाक्से सम्पादित प्राणसे सम्पादित श्रोत्रसे सम्पादित कर्मसे सम्पादित अग्निसे सम्पादित अपनी अपनी वृत्तिरूप अग्नियोंको वाक्, प्राण आदिकोंने देखा) इस प्रकार भिन्न भिन्न साम्पादिक अग्नियोंको कहते हैं । उनमें

रत्नप्रभा

मनःसृष्टिमुक्त्वा 'तन्मन आत्मानमैक्षत' इतीक्षणपूर्वकम् 'अग्नीनपश्यद्' इति मनोऽधिकृत्य पठन्ति इत्यर्थः । पुरुषायुष्ट्वेन क्लृप्तशतवर्षान्तर्गतैः षट्त्रिंशत्सहस्रैरहोरात्रैरवच्छिन्नतया मनोवृत्तीनामसङ्ख्येयानामपि षट्त्रिंशत्सहस्रत्वम् । ताभिरिष्टकात्वेन कल्पिताभिर्मनसैव सम्पादिता अग्नयः मनश्चितः तान् अर्कान् पूज्यान् मनोमयान् मनोवृत्तिषु सम्पादितान् आत्मनः स्वस्य सम्बन्धित्वेन मनोऽपश्यत्, तथा वाक्प्राणादयोऽपि स्वस्ववृत्तिरूपानग्नीनपश्यन्नित्याह—**तथेति** । प्राणः—घ्राणम् । कर्मेन्द्रियेण हस्तादिना चितः कर्मचितः । अग्निः—त्वक् । पूर्वत्राग्निचयनप्रकरणात् किमेतेऽग्नयः क्रत्वर्थाः, उत प्राधान्यज्ञापकलिङ्गादिभूयस्त्वात् पुरुषार्था वेति संशयमाह—**तेष्विति** । केवलविद्यात्मकाः क्रियाङ्गत्वं विना भावनामया इत्यर्थः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

था और असत्‌रूप भी नहीं था, ऐसा उपक्रम करके मनकी सृष्टि कहकर उस मनने अपनेको देखा, इस प्रकार ईक्षणपूर्वक अग्नियोंको देखा, इस तरह मनके उद्देशसे पाठ करते हैं, ऐसा अर्थ है । पुरुषके आयुष्‌रूपसे कल्पित सौ वर्षके अन्तर्गत छत्तीस हजार दिन और रात्रिसे मनोवृत्तियां अवच्छिन्न हैं, यद्यपि वे असंख्य हैं, तो भी वे छत्तीस हजार ही कही गई हैं । और इष्टिकारूपसे कल्पित इन मनोवृत्तियों द्वारा मनसे सम्पादित अग्नियां मनश्चित् अग्नियां हैं, ऐसे पूज्य और मनोमय अर्थात् मनोवृत्तियोंमें सम्पादित अग्नियोंको देखा, ऐसा कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे । प्राणचितः—प्राणसे अर्थात् घ्राणेन्द्रियसे सम्पादित । कर्मचितः—कर्मेन्द्रिय, हस्त आदिसे सम्पादित । अग्निचयन प्रकरण होनेसे ये अग्नियां क्रत्वर्थक हैं या प्राधान्येक ज्ञापक लिंगादिके आधिक्य होनेसे पुरुषार्थ हैं, ऐसा संशय कहते हैं—"तेषु" इत्यादिसे।

भाष्य

संशयः—किमेते मनश्चिदादयः क्रियानुप्रवेशिनस्तच्छेषभूता उत स्वतन्त्राः केवलविद्यात्मका इति ।

तत्र प्रकरणात् क्रियानुप्रवेशे प्राप्ते स्वातन्त्र्यं तावत् प्रतिजानीते—लिङ्गभूयस्त्वादिति । भूयांसि हि लिङ्गान्यस्मिन् ब्राह्मणे केवलविद्यात्मकत्वमेषामुपोद्बलयन्ति दृश्यन्ते 'तद्यत्किंचेमानि भूतानि मनसा संकल्पयन्ति

भाष्यका अनुवाद

संशय होता है कि क्या मनसे सम्पादित अग्नि आदि क्रियामें अनुप्रवेश करनेवाले ये कर्मके अंगभूत हैं या स्वतन्त्र—केवल विद्यात्मक हैं? यहांपर प्रकरणसे क्रियामें अनुप्रवेश प्राप्त होनेपर स्वातन्त्र्यकी प्रतिज्ञा करते हैं—बहुतसे लिंग होनेसे, क्योंकि इस ब्राह्मणमें बहुतसे लिंग 'ये अग्नियां केवल विद्यात्मक हैं' ऐसा समर्थन करते देखे जाते हैं—'तद्यत् किंचेमानि०' (इसमें ये भूत मनसे

रत्नप्रभा

एकप्रयोगासम्भवाद् वायुप्राणयोरपि प्रयोगभेदोऽस्तु, इह तु मनश्चिदाद्यग्नीनां प्रकरणात् कर्माङ्गत्वेनैकप्रयोगत्वमिति प्रापय्य सिद्धान्तमुपक्रमते—तत्रेत्यादिना । पूर्वपक्षे भावनाग्नीनां क्रत्वङ्गत्वमिष्टम्, तेषां क्रियाग्निना विकल्पः समुच्चयो वाऽस्तु, सिद्धान्ते पुरुषार्थत्वमिति फलम् । तत्—तत्र सर्वप्राणिमनोवृत्तिभिर्मम सदाऽग्नयश्चीयन्ते इति ध्यानदार्ढ्ये सति सर्वभूतानि यत्किञ्चित् मनसा सङ्कल्पयन्ति, तेषामेवाऽग्नीनां सा कृतिः—करणमित्येकं लिङ्गम्, क्रियाङ्गस्य यत्किञ्चित्करणेन सिद्ध्यदर्शनादित्याह—तद्यदिति । एवंविदे स्वपते जाग्रतेऽपि तदीयाग्नीन् भूतानि सर्वदा चिन्व-

रत्नप्रभाका अनुवाद

केवलविद्यात्मक—क्रियाके अङ्ग हुए बिना भावनामय है, ऐसा अर्थ है । वायु और प्राणके एक प्रयोगका संभव न होनेसे उनका भिन्न प्रयोगसे ध्यान होता है, परन्तु यहां तो मनश्चित् आदि अग्नियां प्रकरणसे कर्मके अङ्ग हैं, अतः उनका एक प्रयोग युक्त है, ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त कराकर सिद्धान्तका उपक्रम करते हैं—"तत्र" इत्यादिसे । पूर्वपक्षमें भावनामय अग्नियोंकी क्रत्वङ्गता इष्ट है, उनका क्रियाग्निके साथ विकल्प हो चाहे समुच्चय हो । सिद्धान्तमें उनकी पुरुषार्थता फल है । उसमें सब प्राणियोंकी मनोवृत्तिसे मेरी अग्नियाँ सर्वदा सम्पादित होती हैं, इस प्रकार ध्यानकी दृढ़ता होनेपर भी सब प्राणी जो कुछ मनसे संकल्प करते हैं वह उन्हीं अग्नियोंकी कृति अर्थात् करण है, यह एक लिंग है, क्योंकि क्रियाके अंगकी जिस किसी करणसे सिद्धि नहीं देखी जाती, ऐसा कहते हैं—"तद्यत्" इत्यादिसे । ऐसा जाननेवाला चाहे सोता हो चाहे जागता हो सब प्राणी सदा

भाष्य

तेषामेव सा कृतिः' इति, 'तान् हैतानेवंविदे सर्वदा सर्वाणि भूतानि चिन्वन्त्यपि स्वपते' इति चैवंजातीयकानि। तद्धि लिङ्गं प्रकरणाद् बलीयः। तदप्युक्तं पूर्वस्मिन् काण्डे—'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' (जै० सू० ३।३।१३।) इति ॥ ४४ ॥

भाष्यका अनुवाद

जो कुछ संकल्प करते हैं वह उन अग्नियोंकी ही कृति—करण है) यह और 'तान् हैतानेवंविदे०' (ऐसी उपासना करनेवाला यद्यपि सोता हो या जागता हो तो भी उसके लिए सर्वदा सब भूत उन उन अग्नियोंका चयन करते हैं) इत्यादि। वे लिंग प्रकरणसे विशेष बलवान् हैं यह भी पूर्व काण्डमें कहा गया है—'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थान०' (श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्याके समवायमें उत्तरोत्तर पूर्व-पूर्वसे दुर्बल है, अर्थका विप्रकर्ष होनेसे अर्थात् स्वार्थके बोध करनेमें परके पूर्व व्यवधानसे प्रवृत्त होनेसे) ॥ ४४ ॥

रत्नप्रभा

न्तीति लिङ्गान्तरम्, क्रियाङ्गस्य चोदितकालानुष्ठेयस्य सदा सर्वैरनुष्ठीयमानत्वायोगादित्यर्थः। षट्त्रिंशत्सहस्रत्वसंख्यापि अनङ्गत्वे लिङ्गमेवंजातीयकपदेनोक्तम् ॥४४॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

उसके लिए उसकी अग्नियोंका सम्पादन करते हैं यह अन्य लिंग है, क्योंकि क्रियाङ्ग जो चोदितकालमें अनुष्ठेय है, उसका सदा सबसे अनुष्ठान हो यह युक्त नहीं है, ऐसा अर्थ है। छत्तीस हजार संख्या भी अग्नियोंको क्रियाङ्ग न माननेमें लिंग है और वह लिंग 'एवं जातीयक' इस शब्दसे उक्त है ॥ ४४ ॥

पूर्वविकल्पः प्रकरणात् स्यात् क्रिया मानसवत् ॥४५॥

पदच्छेद—पूर्वविकल्पः, प्रकरणात्, स्यात्, क्रिया, मानसवत्।

पदार्थोक्ति—[संकल्पात्मका मनश्चिदादयोऽग्नयो न स्वतन्त्राः, अपि तु] प्रकरणात्—प्रकरणप्रामाण्यात्, पूर्वविकल्पः—पूर्वस्य—'इष्टकाभिरग्निं चिनुते' इति प्राक्तनस्य प्रकृतस्य क्रियामयस्याग्नेरयं विकल्पः—सङ्कल्पात्मकोऽग्निः क्रिया—क्रियामय एव स्यात्। तत्र दृष्टान्तमाह—मानसवत्—'मनोग्रहं गृह्णाति' इत्येवंरूपेण विश्रुतो यथा द्वादशाहे मानसग्रहो द्वादशाहान्तःपातिनो दशमस्याह्नोऽङ्गम्, तथेमेऽग्नयः प्रकृतकर्मणः शेषभूताः इत्यर्थः।

भाषार्थ—संकल्पात्मक मनश्चिद् आदि अग्नियाँ स्वतन्त्र नहीं हैं, परन्तु प्रकरणसे पूर्वमें प्रकृत क्रियामय अग्निका यह संकल्पात्मक अग्नि अङ्ग ही है। जैसे 'मनोग्रहं गृह्णाति' (मन मनोग्राह्य (सोमरस)का ग्रहण करता है) इत्यादि द्वादशाहमें (बारह दिनमें) सुना गया मानसग्रह बारह दिनके मध्यवर्ती दशम दिनका भी अङ्ग जैसे होता है, वैसे ही प्रकृत कर्मके अङ्गभूत ये अग्नियाँ हैं, ऐसा अर्थ है।

भाष्य

नैतद् युक्तम्—स्वतन्त्रा एतेऽग्नयोऽनन्यशेषभूता इति, पूर्वस्य क्रियामयस्याऽग्नेः प्रकरणात् तद्विषय एवायं विकल्पविशेषोपदेशः स्यान्न स्वतन्त्रः। ननु प्रकरणाल्लिङ्गं बलीयः। सत्यमेवमेतत्। लिङ्गमपि त्वेवंजातीयकं न

भाष्यका अनुवाद

ये अग्नियां स्वतन्त्र हैं अन्यके शेषभूत नहीं हैं, ऐसा जो कहा गया है, वह युक्त नहीं है, क्योंकि पूर्व क्रियामय अग्निका ही प्रकरण होनेसे तद्विषयक ही इस विकल्पविशेषका उपदेश है, स्वतन्त्र नहीं है, परन्तु प्रकरणसे लिंग अधिक बलवान् है। विध्युद्देशस्थलिंग प्रकरणसे बलवान् है यह कथन ठीक है।

रत्नप्रभा

एवं सिद्धान्तमुपक्रम्य पूर्वपक्षति—**पूर्वेति**। पूर्वस्य 'इष्टकाभिरग्निं चिनुते' इत्युक्तस्य 'स एव स्विष्टकाग्निः' इति सन्निहितस्य अयं विकल्पविशेषोपदेशः सङ्कल्पमयत्वाख्यप्रकारभेदोपदेशः, क्रियाग्निवत् साङ्कल्पिकाग्नयोऽप्यङ्गमिति यावत्। किं विधिवाक्यस्थं लिङ्गं प्रकरणाद् बलीयः अर्थवादस्थं वा। आद्यम् अङ्गीकरोति—**सत्यमिति**। न द्वितीय इत्याह—**लिङ्गमिति**। मानसाग्निविध्यर्थार्थवादस्थलिङ्गानां स्वार्थप्रापकमानाभावाद् दौर्बल्यमित्यर्थः। सूत्रस्थक्रियापदं

रत्नप्रभाका अनुवाद

उक्त प्रकारसे सिद्धान्तका उपक्रम करके पूर्वपक्ष करते हैं—"पूर्व" इत्यादिसे। पूर्वमें 'इष्टकाभिरग्निं चिनुते' (ईंटोंसे अग्निका चयन करते हैं) इस प्रकार जो कहा गया है, और जो 'स एष स्विष्टकाग्निः' (यह तो ईंटकी अग्नि है) इस प्रकार सन्निहित है उसका यह विकल्पविशेषोपदेश है—संकल्पमयत्वनामका प्रकार भेदसे उपदेश है। इसका अभिप्राय यह है कि क्रियाग्निके समान सांकल्पिक अग्नि भी यागका अङ्ग है। क्या विधिवाक्यगत लिङ्ग प्रकरणसे बलवान् है अथवा अर्थवादगत बलवान् है? प्रथम पक्षका स्वीकार करते हैं—"सत्यम्" इत्यादिसे। द्वितीय पक्ष ठीक नहीं है, ऐसा कहते हैं—"लिङ्गम्" इत्यादिसे। मानसाग्निविधिके अर्थवादगत लिङ्ग स्वार्थप्रापक प्रमाणके न होनेसे दुर्बल हैं,

भाष्य

प्रकरणाद् बलीयो भवति, अन्यार्थदर्शनं ह्येतत्, सांपादिकाग्निप्रशंसारूपत्वात्। अन्यार्थदर्शनं चाऽसत्यामन्यस्यां प्राप्तौ गुणवादेनाऽप्युपपद्यमानं न प्रकरणं बाधितुमुत्सहते। तस्मात् सांपादिका अप्येतेऽग्नयः प्रकरणात् क्रियानुप्रवेशिन एव स्युः। मानसवत्, यथा दशरात्रस्य दशमेऽहन्यविवाक्ये

भाष्यका अनुवाद

परन्तु इस प्रकारका लिंग प्रकरणसे बलवान् नहीं होता, कारण कि, यह अन्यार्थदर्शन है, क्योंकि वह साम्पादिक अग्निका प्रशंसारूप है, और अन्यार्थदर्शन तो अन्यप्राप्ति न होनेपर गुणवादसे भी उपपन्न होता हुआ प्रकरणका बाध करनेमें समर्थ नहीं होता है। इसलिए साम्पादिक होती हुई भी ये अग्नियाँ प्रकरणसे क्रियामें अनुप्रवेश करनेवाली ही होंगी, मानसके समान। जैसे दशरात्र क्रतुके

रत्नप्रभा

व्याचष्टे—**तस्मादिति**। ननु अक्रियारूपाग्नीनां ध्यानमयानां कथं क्रियाङ्गत्वं तत्राह—**मानसवदिति**। द्वादशाहस्याऽद्यन्ताहर्द्वयं त्यक्त्वा मध्यस्थदशरात्रस्यैव द्विरात्रादिषु प्रकृतित्वम्, तद्धर्माणामेव तेषु अतिदेशात्, तस्य मध्यदिनानुष्ठेयस्य सदोच्चैरनुष्ठीयमानत्वात्, दशरात्रस्य दशमेऽहन्यर्थादेकादशेऽहनि मानसग्रहः श्रूयते—"अनया त्वा पात्रेण समुद्रं रसया प्राजापत्यं मनोग्रहं गृह्णाति" इति। अनया रसया पृथिव्या पात्रेण समुद्रं त्वा प्रजापतिदेवताकं मनोग्रहं गृह्णते इति—ग्रहः—सोमरसः, मनसा रसत्वेन भावितमध्वर्युर्गृह्णातीत्यर्थः। अत एवर्त्विजां ध्यायितया विविधवाक्योच्चारणाभावाद् अविवाक्यसंज्ञा—अह्नः प्राप्ता। ग्रहणं

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा अर्थ है। सूत्रस्थ क्रियापदकी व्याख्या करते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे। परन्तु क्रियास्वरूपसे रहित ध्यानमय अग्नियां क्रियाकी अङ्ग किस प्रकार हो सकती हैं? इसपर कहते हैं—"मानसवत्" इत्यादिसे। द्वादशाहके—बारह दिनमें होनेवाले सोमयागके आदि और अन्त दिनको छोड़कर मध्यके दशरात्र ही द्विरात्र आदिमें प्रकृति हैं उसके धर्मोंका ही उनमें अतिदेश होनेके कारण उस मध्यरात्रके दशम दिनमें अर्थात् ग्यारहवें दिनमें मानसग्रह सुना जाता है—"अनया त्वा०" इत्यादिसे। इसका यह अर्थ है—हे समुद्र! इस पृथ्वीरूपपात्रसे सोमरससे कल्पित जिसका प्रजापति देवता है ऐसे तुझको, अध्वर्यु ग्रहण करता है, इसलिए ऋत्विजोंका ध्यायीरूपसे (ध्यान करनेवालेके रूपसे) विविधवाक्यका उच्चारण न होनेके कारण अहःकी अविसंज्ञा प्राप्त होती है। ग्रहणशब्दका अर्थ है—सोमपात्रका ग्रहण—उपादान।

भाष्य

पृथिव्या पात्रेण समुद्रस्य सोमस्य प्रजापतये देवतायै गृह्यमाणस्य ग्रहणासादनहवनाहरणोपह्वानभक्षणानि मानसान्येवाऽऽम्नायन्ते। स च मानसोऽपि ग्रहकल्पः क्रियाप्रकरणात् क्रियाशेष एव भवत्येवमयमप्यग्निकल्प इत्यर्थः ॥४५॥

भाष्यका अनुवाद

दसवें दिनमें अविवाक्यमें पृथ्वीरूपसे ग्रहण किये जानेवाले प्रजापति देवताके लिए समुद्ररूपी सोमके ग्रहण, आसादन, हवन, आहरण, उपह्वान और भक्षण मानस ही श्रुतिमें कहे जाते हैं। जैसे वह मानस ग्रहकल्प भी क्रियाप्रकरणसे क्रियाशेष ही है, इसी प्रकार यह अग्निकल्प भी है, ऐसा अर्थ है ॥ ४५ ॥

रत्नप्रभा

नाम सोमपात्रस्योपादानम्। गृहीतस्य स्वस्थाने स्थापनम्—आसादनम्। सोमस्य होमः—हवनम्। हुतशेषादानम्—आहरणम्। शेषभक्षणायर्त्विजां मिथोऽनुज्ञानकरणम्—उपह्वानम्, ततो भक्षणमित्येतानि मानसान्येवेत्यर्थः। स च मानसो ग्रहो द्वादशाहात् अहरन्तरं स्वतन्त्रमित्याशङ्क्य द्वादशाहसंज्ञाविरोधात् नाहरन्तरम्, किन्तु प्रकरणादविवाक्यस्याह्नोऽङ्गमिति सिद्धान्तमाह—**स चेति**। कल्पः—कल्पनाप्रकारः। केचित्तु अत्र भाष्ये दशरात्रशब्दो विकृतिपरः। तत्रापि दशमेऽहन्यविवाक्यसंज्ञके मानसग्रहस्याऽतिदेशप्राप्ततयाऽङ्गत्वादित्याहुः ॥४५॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

गृहीतका उसके स्थानमें स्थापन, आसादन शब्दका अर्थ है। सोमका होम, हवन शब्दका अभिधेय है, हवन किये गयेका बचा हुआ भाग—आहरण है। शेषके भक्षणके लिए ऋत्विजोंका परस्पर अनुज्ञाकरण-सलाह करना—उपह्वान है। उसके बाद भक्षण, ये सब मानस ही हैं, ऐसा अर्थ है। और वह मानसग्रह द्वादशाह—सोमयागसे अन्य अहः स्वतन्त्र है, इस प्रकार आशङ्का करके द्वादशाह संज्ञाके साथ विरोध होनेसे अहरन्तर नहीं है, किन्तु प्रकरणके बलसे अविवाक्य अहन्‌का अङ्ग है, ऐसा सिद्धान्त करते हैं—"स च" इत्यादिसे। कल्प—कल्पनाका प्रकार। कोई लोग, इस भाष्यमें दशरात्रशब्द विकृतिपरक है, उसमें भी अविवाक्यसंज्ञक दशम दिनमें अतिदेशसे प्राप्त मानसग्रह अङ्ग है, इससे ऐसा कहते हैं ॥ ४५ ॥

अतिदेशाच्च ॥ ४६ ॥

पदच्छेद—अतिदेशात्, च।

पदार्थोक्ति—च—अपि च, अतिदेशात्—मानसिकाग्नीनां मध्ये 'एकोऽग्निस्तावान्' इत्यादिना पूर्ववर्तीष्टकाचिताग्निना साम्योपदेशात् [क्रियाशेषत्वमेवोक्ताग्नीनामित्यर्थः]।

भाषार्थ—और 'एकोऽग्निस्तावान्' इत्यादिसे इष्टकाचित अग्निसे सादृश्यका उपदेश किया गया है, इससे भी उक्त अग्नियोंको क्रियाशेष ही मानना युक्त है, ऐसा अर्थ है।

भाष्य

अतिदेशश्चैषामग्नीनां क्रियानुप्रवेशमुपोद्बलयति—'षट्त्रिंशत्सहस्राण्यग्नयोऽर्कास्तेषामेकैक एव तावान् यावानसौ पूर्वः' इति । सति हि सामान्येऽतिदेशः प्रवर्तते । ततश्च पूर्वेणेष्टकाचितेन क्रियानुप्रवेशिनाऽग्निना सांपादिकानग्नीनतिदिशन् क्रियानुप्रवेशमेवैषां द्योतयति ॥ ४६ ॥

भाष्यका अनुवाद

और 'षट्त्रिंशत्सहस्राण्यग्नयो०' (छत्तीस हजार पूज्य अग्नियां हैं, उनमें से एक उतना ही है, जितना कि पूर्व अग्नि है) इस तरह इन अग्नियोंका अतिदेश क्रियानुप्रवेशकी पुष्टि करता है, क्योंकि सादृश्य होनेपर ही अतिदेश प्रवृत्त होता है । इसलिए पूर्व, ईंटोंसे चित क्रियानुप्रवेशी अग्निसे साम्पादिक अग्नियोंका अतिदेश करनेवाली श्रुति इनका क्रियानुप्रवेश सूचित करती है ॥ ४६ ॥

रत्नप्रभा

मनश्चिदादीनां क्रियाङ्गत्वे प्रकरणमुक्त्वा लिङ्गमाह—अतिदेशश्चेति । क्रियाङ्गत्वसादृश्यादतिदेश इत्यर्थः ॥४६॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

मनश्चित आदि क्रियाके अङ्ग हैं, उसमें प्रकरणको कहकर लिङ्ग प्रमाण कहते हैं—"अतिदेशाच्च" इत्यादिसे क्रियाङ्गत्वके सादृश्यसे अतिदेश है, ऐसा अर्थ है ॥ ४६ ॥

विद्यैव तु निर्धारणात् ॥ ४७ ॥

पदच्छेद—विद्या, एव, तु, निर्धारणात् ।

पदार्थोक्ति—तुशब्दः पूर्वोक्तसूत्रद्वयाशङ्कितशङ्कानिरासार्थकः । विद्या—विद्यात्मका [एते मनश्चिदाद्यग्नयः स्वतन्त्राः] एव [कुतः ?] निर्धारणात्—'ते हैते विद्याचितः एव' इत्यादिनाऽवधारणात् ।

भावार्थ—विद्यास्वरूप मनश्चिदादि अग्नियाँ स्वतन्त्र ही हैं, क्योंकि 'ते हैते विद्याचितः एव' (वे मनश्चिदादि अग्नियाँ विद्यात्मक ही हैं) इस प्रकार अवधारण किया गया है ।

भाष्य

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। विद्यात्मका एवैते स्वतन्त्रा मनश्चिदादयोऽग्नयः स्युर्न क्रियाशेषभूताः। तथा हि निर्धारयति—'ते हैते विद्याचित एव' इति, 'विद्यया हैवैते एवंविदश्चिता भवन्ति' इति च ॥ ४७ ॥

भाष्यका अनुवाद

तुशब्द पूर्वपक्षकी व्यावृत्ति करता है। विद्यात्मक ये मनश्चित् आदि अग्नियां स्वतन्त्र ही हैं, क्रियाकी अंगभूत नहीं हैं, क्योंकि 'ते हैते विद्याचित एव' (वे ये विद्याचित ही हैं) ऐसा और 'विद्यया हैवैते०' (इस प्रकार उपासकके लिए विद्यासे ही वे अग्नियां सम्पादित होती हैं) ऐसा निर्धारण है ॥ ४७ ॥

रत्नप्रभा

सिद्धान्तमाह—विद्येति ॥४७॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

सिद्धान्त कहते हैं—"विद्या" इत्यादिसे ॥ ४७ ॥

दर्शनाच्च ॥ ४८ ॥

पदच्छेद—दर्शनात्—च।

पदार्थोक्ति—दर्शनात्—मनश्चिदादीनां स्वातन्त्र्यबोधकस्य लिङ्गस्य प्रागुक्तस्य विलोकनात् च—अपि [ते स्वतन्त्रा एव इत्यर्थः]।

भाषार्थ—मनश्चिद् आदिके स्वातन्त्र्यका बोधक पूर्वोक्त लिङ्ग दृष्ट है, अतः वे अग्नियां स्वतन्त्र ही हैं, ऐसा अर्थ है।

भाष्य

दृश्यते चैषां स्वातन्त्र्ये लिङ्गम्, तत् पुरस्ताद्दर्शितम् 'लिङ्गभूयस्त्वात्' (ब्र० सू० ३।३।४४) इत्यत्र ॥ ४८ ॥

भाष्यका अनुवाद

और इन अग्नियोंके स्वातन्त्र्यमें लिंग दीखता है, वह 'लिंग भूयस्त्वात्' इस सूत्रमें दिखलाया गया है ॥ ४८ ॥

रत्नप्रभा

श्रुतिलिंगवाक्यैः प्रकरणं बाध्यमिति सूत्रत्रयार्थः ॥४८॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

श्रुति, लिङ्ग और वाक्यसे प्रकरणका बाध होता है, ऐसा तीनों सूत्रोंका अर्थ है ॥ ४८ ॥

भाष्य

ननु लिङ्गमप्यसत्यामन्यस्यां प्राप्तावसाधकं कस्यचिदर्थस्येत्यपास्य तत्प्रकरणसामर्थ्यात् क्रियाशेषत्वमध्यवसितमिति, अत उत्तरं पठति--

भाष्यका अनुवाद

परन्तु अन्यप्राप्ति न होनेपर लिंग भी अर्थका साधक नहीं होता है, ऐसा मानकर लिंगका त्याग करके प्रकरणके सामर्थ्यसे मनश्चित् अग्नि क्रियाका शेष है, ऐसा निश्चय किया गया है, इससे उत्तर सूत्र पढ़ते हैं—

श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः ॥ ४९ ॥

पदच्छेद—श्रुत्यादिबलीयस्त्वात्, च, न, बाधः ।

पदार्थोक्ति— [श्रुत्यादीत्यत्रादिना लिङ्गवाक्ययोरुपग्रहः, तथा च] श्रुत्यादिबलीयस्त्वात्——श्रुत्यादीनाम्——श्रुतिलिङ्गवाक्यानाम्—बलीयस्त्वात्— अधिकबलशालित्वात् च —अपि न बाधः—न बलहीनेन कर्मप्रकरणेन मन आदीनां स्वातन्त्र्यबाधः [इति भावः] ।

भाषार्थ—श्रुत्यादि इसमें जो आदिशब्द है, उससे लिङ्ग और प्रकरणका ग्रहण करना चाहिए, एवञ्च श्रुति, लिङ्ग और वाक्यका अधिक बल होनेसे दुर्बल कर्मप्रकरणसे मन आदिके स्वातन्त्र्यका बाध नहीं होता है, ऐसा भाव है ।

भाष्य

नैवं प्रकरणसामर्थ्यात् क्रियाशेषत्वमध्यवसाय स्वातन्त्र्यपक्षो बाधितव्यः, श्रुत्यादेर्बलीयस्त्वात् । बलीयांसि हि प्रकरणाच्छ्रुतिलिङ्गवाक्यानीति स्थितं श्रुतिलिङ्गसूत्रे । तानि चेह स्वातन्त्र्यपक्षं साधयन्ति दृश्यन्ते । कथम् ? श्रुतिस्तावत् 'ते हैते विद्याचित एव' इति । तथा लिङ्गम् 'सर्वदा

भाष्यका अनुवाद

इस प्रकार प्रकरणके सामर्थ्यसे मनश्चित् आदि अग्नियां क्रियाशेष हैं, ऐसा निश्चय करके स्वातन्त्र्यपक्षका बाध करना युक्त नहीं है, क्योंकि श्रुति आदि विशेष बलवान् हैं, क्योंकि 'श्रुतिलिङ्ग' इत्यादि सूत्रमें प्रकरणसे श्रुति, लिंग और वाक्य विशेष बलवान् हैं, ऐसा सिद्ध किया गया है और वे श्रुति आदि प्रमाण यहां स्वातन्त्र्य पक्षके साधक दीखते हैं । किस प्रकार ? प्रथम 'ते हैते विद्याचित एव' (वे ये अग्नियां विद्याचित ही हैं) यह श्रुति है । 'सर्वदा सर्वाणि भूतानि०'

भाष्य

सर्वाणि भूतानि चिन्वन्त्यपि स्वपते' इति। तथा वाक्यमपि 'विद्यया हैवैत एवंविदश्चिता भवन्ति' इति। 'विद्याचित एव' इति हि सावधारणेयं श्रुतिः क्रियानुप्रवेशेऽमीषामभ्युपगम्यमाने पीडिता स्यात्। नन्वबाह्य-साधनत्वाभिप्रायमिदमवधारणं भविष्यति। नेत्युच्यते। तदभिप्रायतायां हि विद्याचित इतीयता स्वरूपसंकीर्तनेनैव कृतत्वादनर्थकमवधारणं भवेत्, स्वरूपमेव ह्येषामबाह्यसाधनमिति। अबाह्यसाधनत्वेऽपि तु मानसग्रहवत् क्रियानुप्रवेशशङ्कायां तन्निवृत्तिफलमवधारणमर्थवद्भविष्यति। तथा 'स्वपते जाग्रते चैवंविदे सर्वदा सर्वाणि भूतान्येतानग्नींश्चिन्वन्ति' इति सातत्यदर्शन-

भाष्यका अनुवाद

(सर्वदा सब प्राणी चाहे वह जागता हो चाहे सोता हो उसके लिए इन अग्नियोंका चयन करते हैं) यह लिंग है। 'विद्यया हैवैते०' (विद्यासे ही ये अग्नियाँ ऐसा जाननेवालेके लिए संघटित होती हैं) यह वाक्य भी है। 'विद्याचित एव' (विद्यासे संपादित हुई ही) ऐसी यह अवधारणसहित श्रुति, यदि इन अग्नियोंके क्रियानुप्रवेशका स्वीकार किया जाय, तो बाधित हो जायगी। परन्तु इस अवधारण-का अभिप्राय बाह्यसाधनका अभाव दिखलाना होगा। हम कहते हैं कि नहीं, क्योंकि यदि ऐसा उसका अभिप्राय हो, तो 'विद्याचितः' (विद्यासे सम्पादित हुई) इतने स्वरूप संकीर्तनसे ही उसका अबाह्यसाधनत्व सिद्ध होनेसे 'एव' यह अवधारण अनर्थक हो जायगा, क्योंकि बाह्य साधनका अभाव इन अग्नियोंका स्वरूप ही है। परन्तु उन मनश्चित् आदि अग्नियोंके बाह्य साधनका अभाव होनेपर भी मानसग्रहके समान क्रियानुप्रवेशकी शंका होनेपर उसकी निवृत्ति करनेसे, यह अवधारण सार्थक होगा। इसी प्रकार 'स्वपते जाग्रते०'

रत्नप्रभा

तत्रावधारणश्रुतेरन्यथासिद्धिं शङ्कते—नन्वबाह्येति। विद्याचित इति पदे-नैवाऽबाह्यसाधनत्वस्य लब्धत्वादवधारणं व्यर्थम् इत्याह—नेति। तर्हि कथमस्या-र्थवत्त्वं तत्राह—अबाह्येति। लिङ्गं व्यनक्ति—तथेति। अग्नीनां सर्वकालव्या-

रत्नप्रभाका अनुवाद

उसमें अवधारण श्रुति अन्यथासिद्ध है, ऐसी शङ्का करते हैं—"नन्वबाह्य" इत्यादिसे। 'विद्याचितः' इस पदसे ही बाह्य—अन्य साधनका अभाव प्राप्त होनेसे यह अवधारण व्यर्थ है, ऐसा कहते हैं—"न" इत्यादिसे। तो इस अवधारणका प्रयोजन है, यह किस प्रकार सिद्ध होगा? इसपर कहते हैं—"अबाह्य" इत्यादिसे। लिंगको अभिव्यक्त करते—"तथा" इत्यादिसे। सर्वकालव्यापी

भाष्य

मेषां स्वातन्त्र्येऽवकल्पते । यथा सांपादिके वाक्प्राणमयेऽग्निहोत्रे 'प्राणं तदा वाचि जुहोति—वाचं तदा प्राणे जुहोति' (कौ० २।५) इति चोक्त्वोच्यते 'एते अनन्ते अमृते आहुती जाग्रच्च स्वपंश्च सततं जुहोति' (कौषी० २।५) इति, तद्वत् । क्रियानुप्रवेशे तु क्रियाप्रयोगस्याऽल्पकालत्वेन न सातत्येनैषां प्रयोगः कल्पेत । न चेदमर्थवादमात्रमिति न्याय्यम् । यत्र हि विस्पष्टो विधायको लिङादिरुपलभ्यते, युक्तं तत्र संकीर्तनमात्रस्याऽर्थवादत्वम् । इह तु विस्पष्टविध्यन्तरानुपलब्धेः सङ्कीर्तनादेवैषां विज्ञानविधानं कल्पनीयम्, तच्च यथा सङ्कीर्तनमेव कल्पयितुं शक्यत इति सातत्यदर्शनात्तथाभूतमेव

भाष्यका अनुवाद

ऐसा जाननेवाला चाहे जागता हो चाहे सोता हो, उसके लिए सर्वदा सब भूत इन अग्नियोंका सम्पादन करते हैं) यह सातत्य दर्शन इन अग्नियोंके स्वातन्त्र्यसे ही घटता है । जैसे साम्पादिक, वाक् प्राणमय अग्निहोत्रमें 'प्राणं तदा वाचि' (तब—ध्यानकालमें प्राणका वाणीमें होम करता है और तब—ध्यानकालमें वाणीका प्राणमें होम करता है) ऐसा कहकर 'एते अनन्ते अनृते आहुती०' (इन अनन्त अनृत-आहुतियोंका वह जागते या सोते सदा होम करता है) ऐसा कहा जाता है, इसीके समान इनका क्रियाङ्गत्व नहीं है । क्रियानुप्रवेशमें तो क्रियाके प्रयोगकी अल्पकालता होनेसे इन अग्नियोंका सतत प्रयोग न हो सकेगा । और यह अर्थवादमात्र है, ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि जहांपर विधान करनेवाले लिङ्, लोट् आदि स्वरूपसे उपलब्ध होते हैं वहांपर संकीर्त्तनमात्रका अर्थवाद होना युक्त है । यहां तो स्पष्टरूपसे अन्य विधिकी उपलब्धि न होनेसे संकीर्त्तनसे ही इनके विज्ञानके विधानकी कल्पना करनी चाहिए और उसकी संकीर्त्तनके अनुसार ही कल्पना की जा सकती है, अतः सातत्यक्रियाका दर्शन होनेसे वैसी ही

रत्नप्रभा

पित्वेनाऽनङ्गत्वे दृष्टान्तमाह—यथेति । तदा—ध्यानकाल इत्यर्थः । होमे यथा सातत्यमुच्यते, तद्वदग्नीनां सातत्यदर्शनमित्यन्वयः । यदुक्तमर्थवादस्थत्वात् लिङ्गं दुर्बलमिति, तन्न, सर्वदा सर्वभूतानि मदर्थमग्नीन् चिन्वन्तीति ध्यायेदित्यपूर्वार्थ-

रत्नप्रभाका अनुवाद

होनेके कारण अग्नि अङ्ग नहीं है, उसमें दृष्टान्त कहते हैं—"यथा" इत्यादिसे । तदा—ध्यानकालमें, ऐसा अर्थ है । जैसे होममें सातत्यकी—नैरन्तर्यकी उक्ति है, वैसे अग्नियोंमें भी सातत्यदर्शन है, ऐसा अन्वय है । और यह जो कहा गया है कि अर्थवादगत होनेके कारण लिङ्ग दुर्बल है, यह युक्त नहीं है, क्योंकि सब भूत मेरे लिए सदा अग्नियोंको एकत्रित करते हैं,

भाष्य

कल्प्यते। ततश्च सामर्थ्यादेषां स्वातन्त्र्यसिद्धिः। एतेन 'तद्यत्किंचेमानि भूतानि मनसा संकल्पयन्ति तेषामेव सा कृतिः' इत्यादि व्याख्यातम्। तथा वाक्यमपि 'एवंविदे' इति पुरुषविशेषसम्बन्धमेवैषामाचक्षाणं न क्रतुसम्बन्धं मृष्यते। तस्मात् स्वातन्त्र्यपक्ष एव ज्यायानिति ॥ ४९ ॥

भाष्यका अनुवाद

कल्पना की जाती है। इसलिए सामर्थ्यसे ये अग्नियां स्वतन्त्र हैं, ऐसा सिद्ध होता है, इस नयसे 'तद्‌यत्किंचेमानि०' (ये भूत मनसे जो कुछ संकल्प करते हैं वह उन अग्नियोंकी ही कृति है) इत्यादिका व्याख्यान हुआ। उसी प्रकार वाक्य भी 'एवंविदे' (ऐसा जाननेवालेके लिए) इन अग्नियोंका पुरुषार्थविशेषके साथ सम्बन्ध कहता हुआ, क्रतुके साथ इनके सम्बन्धका सहन नहीं करता है। इसलिए स्वातन्त्र्यपक्ष ही अधिक श्रेष्ठ है ॥ ४९ ॥

रत्नप्रभा

तया विधिकल्पनात्। तथा विधिवाक्यस्थत्वात् लिङ्गं प्रकरणात् बलवत् इत्याह—**न चेदमित्यादिना**। **एतेनेति**—विधित्वेनेत्यर्थः। वाक्यं विवृणोति—**तथेति** ॥४९॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार ध्यान करे, इस प्रकार अपूर्व अर्थका प्रतिपादन होनेसे विधिकी कल्पना की जाती है। इसी प्रकार विधिवाक्यगत लिङ्ग भी प्रकरणसे बलवान् है, ऐसा कहते हैं—"न चेदम्" इत्यादिसे। 'एतेन'—विधिसे, ऐसा अर्थ है। वाक्यका विवरण करते हैं— "तथा" इत्यादिसे ॥ ४९ ॥

अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद्दृष्टश्च तदुक्तम् ॥५०॥

पदच्छेद—अनुबन्धादिभ्यः, प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववत्, दृष्टः, च, तत्, उक्तम्।

पदार्थोक्ति—[अनुबन्धादिभ्यः, इत्यत्रादिना अतिदेशो गृह्यते, बहुवचनोपपत्तिश्च प्राकृतनसूत्रोक्तश्रुत्यादीनादाय बोध्या, अनुबन्धः 'ते मनसैवाधीयन्त' इत्यादिना मनआदिवृत्तिषु कर्माङ्गत्वसम्पादनम्, तथा च] अनुबन्धादिभ्यः—अनुबन्धादिहेतुभ्यः [मनश्चिदादीनां स्वातन्त्र्यम्, तत्र दृष्टान्तः]—प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववत्—यथा प्रज्ञान्तराणाम्—शाण्डिल्यादिविद्यानाम् पृथक्त्वम्—स्वातन्त्र्यम्, तद्वत्, [ननु मनश्चिदादीनां स्वातन्त्र्ये प्रकरणादुत्कर्षे को दृष्टान्तः? इत्यत आह]—दृष्टश्च—राजसूयं प्रस्तुत्य श्रुताया अवेष्टेर्ब्राह्मणादिकर्तृकाया राजमात्रकर्तृकराजसूयप्रकरणादुत्कर्षो दृष्टः, तद्वदिहापि [अग्नीनां कर्मप्रकरणादुत्कर्ष इति] तदुक्तम्—तद्धि प्रथमे काण्डे 'क्रत्वर्थायामिति' इत्यादिनोक्तम्।

भाषार्थ—अनुबन्धादिमें आदि शब्दसे अतिदेशका ग्रहण करना चाहिए और श्रुति आदि जो पूर्वमें कहे गये हैं उनको लेकर प्रकृतमें बहुवचनकी उपपत्ति करनी चाहिए। अनुबन्ध—'ते मनसैवाधीयन्त' इत्यादिसे मन आदि वृत्तियोंमें कर्माङ्गत्वका सम्पादन। एवञ्च अनुबन्धादिभ्यः—अनुबन्ध आदि हेतुओंसे, मनश्चित् आदि स्वतन्त्र हैं, जैसे शाण्डिल्य आदि अन्य विद्याएँ स्वतन्त्र हैं, मनश्चित् आदिके स्वतन्त्र होनेपर कर्मप्रकरणसे उन्हें अलग करनेमें क्या दृष्टान्त है? इसपर कहते हैं—दृष्टश्च—राजसूयका प्रस्ताव करके श्रुत ब्राह्मण आदिसे की जानेवाली अवेष्टिका केवल राजासे किये जानेवाले राजसूय यागसे उत्कर्ष जैसे देखा गया है, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए, यही बात क्रत्वर्थायामिति' इत्यादि सूत्रमें पूर्वकाण्डमें कही गई है।

भाष्य

इतश्च प्रकरणमुपमृद्य स्वातन्त्र्यं मनश्चिदादीनां प्रतिपत्तव्यम्, यत्क्रियावयवान्मनआदिव्यापारेष्वनुबध्नाति 'ते मनसैवाधीयन्त मनसाचीयन्त मनसैव ग्रहा अगृह्यन्त मनसाऽस्तुवन्मनसाऽशंसन्यत्किञ्च यज्ञे कर्म क्रियते यत्किञ्च यज्ञियं कर्म मनसैव तेषु तन्मनोमयेषु मनश्चित्सु मनोमयमेव

भाष्यका अनुवाद

और इससे भी प्रकरणका उपमर्दन करके मनश्चित् आदि अग्नियोंका स्वातन्त्र्य समझना चाहिए, क्योंकि श्रुति क्रियाके अवयवोंको मन आदिके व्यापारोंमें सम्बद्ध करती है—'ते मनसैवाधीयन्त०' (उन अग्नियोंका मनसे ही आधान करे, मनसे चयन करना चाहिए, मनसे ईंटे रक्खी जाती हैं, मनसे ही उद्गाता आदि ऋत्विक् उनका स्तवन करते हैं, मनसे ही होता कहते हैं और यज्ञोंमें जो कोई कर्म—पुरुषार्थ किया जाता है और यज्ञके योग्य जो कर्म किया जाता है वह सब मनसे ही किया जाता है, उससे वह मनोमय मनश्चित् अग्नियोंमें

रत्नप्रभा

सम्पदुपास्त्यै मनोवृत्तिषु क्रियाङ्गानां योजनम्—अनुबन्धः श्रुत्या क्रियते, तदन्यथानुपपत्त्याऽप्यग्नीनां पुरुषार्थत्वम्, क्रत्वर्थत्वेऽङ्गानां सिद्धत्वेन सम्पादनानुपपत्तेरित्याह—इतश्चेत्यादिना। ते अग्नयः आधीयन्त—तेषामाधानं मनसैव

रत्नप्रभाका अनुवाद

सम्पत् उपासनाके लिए क्रियाके अङ्गोंका मनोवृत्तिओंमें—योजन अनुबन्ध श्रुतिसे किया जाता है, इसकी अन्यथानुपपत्ति न हो इसलिए भी अग्नियाँ पुरुषार्थ हैं, क्योंकि क्रत्वर्थ माननेपर अङ्गोंके सिद्ध होनेसे सम्पादनकी अनुपपत्ति होगी, ऐसा कहते हैं—"इतश्च" इत्यादिसे। ते-अग्नियाँ आधीयन्त—उनका मनसे ही आधान करे, ऐसा अर्थ है, क्योंकि वेदमें कालविशेषका कोई

भाष्य

क्रियते' इत्यादिना । संपत्फलो ह्ययमनुबन्धः, न च प्रत्यक्षाः क्रियावयवाः सन्तः सम्पदा लिप्सितव्याः । न चात्रोद्गीथाद्युपासनवत्क्रियाङ्गसम्बन्धात्तदनुप्रवेशित्वमाशङ्कितव्यं श्रुतिवैरूप्यात् । नह्यत्र क्रियाङ्गं किञ्चिदादाय तस्मिन्नदो नामाऽध्यवसितव्यमिति वदति । षट्त्रिंशत्सहस्राणि तु मनोवृत्तिभेदानादाय तेष्वग्नित्वं ग्रहादींश्च कल्पयति पुरुषयज्ञादिवत् । संख्या चेयं

भाष्यका अनुवाद

मनोमय ही किया जाता है) इत्यादिसे । क्योंकि यह अनुबन्ध सम्पत् फल है (तत्-तत् अवयवोंका सम्पादन इस अनुबन्धका फल है और क्रियावयवोंके प्रत्यक्ष होनेपर उनका सम्पत्तिसे—संकल्पसे प्राप्त करनेकी इच्छा करना उचित नहीं है । और यहांपर उद्गीथादि उपासनाके समान क्रियाके अंगके साथ संबन्ध होनेसे क्रियानुप्रवेशित्व है ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि श्रुतियां विरूप हैं—असमान हैं, क्योंकि यहां किसी क्रियाङ्गको लेकर उसमें इसका अध्यवसाय करना चाहिए, ऐसा श्रुति नहीं कहती । परन्तु छत्तीस हजार मनो-

रत्नप्रभा

कुर्यादित्यर्थः । कालस्य छन्दस्यनियमात् अचीयन्त—इष्टका चेतव्या इत्यर्थः । ग्रहाः—पात्राणि, अस्तुवन्—उद्गातारः स्तुवन्ति, अशंसन्—होतारः शंसन्ति, किं बहूक्त्या यत्किञ्चित् यज्ञे कर्म—आरादुपकारकं यज्ञीयं यज्ञस्वरूपोत्पादकञ्च तत् सर्वं मनोमयं कुर्यादिति श्रुत्यर्थः । वृत्तिष्वग्निध्यानस्य क्रियानङ्गत्वेऽप्युद्गीथध्यानवत्क्रियाङ्गाश्रितत्वं स्यात्, नेत्याह—न चात्रोद्गीथेति । अङ्गावबद्धश्रुतितोऽस्याः श्रुतेः वैरूप्यं स्फुटयति—नहीति । अनङ्गवृत्तिषु साङ्गक्रतुसम्पादनं पुरुषस्य यज्ञत्वध्यानवत् स्वतन्त्रमित्यर्थः । अनादरार्थोऽतिदेशो न

रत्नप्रभाका अनुवाद

नियम नहीं है । अचीयन्त—ईटोंका चयन करना चाहिए, ऐसा अर्थ है । ग्रह—पात्र, अस्तुवन्—उद्गाता लोग स्तुति करते हैं । अशंसन्—होता लोग शंसन करते हैं । अधिक क्या कहें साक्षात् या परम्परासे उपकारक यज्ञ सम्बन्धी या यज्ञ स्वरूपका उत्पादक जो कोई कर्म हो उस सबको मनोमय करे, ऐसा श्रुतिका अर्थ है । यद्यपि वृत्तियोंमें अग्निका ध्यान क्रियाका अङ्ग नहीं है, तथापि वह उद्गीथ ध्यानके समान क्रियाङ्गाश्रित होगा ? नहीं, ऐसा कहते हैं—"न चात्रोद्गीथ" इत्यादिसे । अङ्गाश्रित श्रुतिसे इस श्रुतिका पृथक्त्व स्फुट करते हैं—"नहि" इत्यादिसे अनंग वृत्तियोंमें साङ्ग क्रतुका सम्पादन पुरुषमें यज्ञत्वके ध्यानके समान स्वतन्त्र है, ऐसा अर्थ है । अतिदेश

भाष्य

पुरुषायुषस्याहःसु दृष्टा सती तत्सम्बन्धिनीषु मनोवृत्तिष्वारोप्यत इति द्रष्टव्यम्। एवमनुबन्धात् स्वातन्त्र्यं मनश्चिदादीनाम्। आदिशब्दादति-देशाद्यपि यथासम्भवं योजयितव्यम्। तथा हि—'तेषामेकैक एव तावान् यावानसौ पूर्वः' इति क्रियामयस्याग्नेर्माहात्म्यं ज्ञानमयानामेकैकस्याऽति-दिशत् क्रियायामनादरं दर्शयति। न च सत्येव क्रियासम्बन्धे विकल्पः पूर्वे-णोत्तरेषामिति शक्यं वक्तुम्। नहि येन व्यापारेणाऽऽहवनीयधारणादिना पूर्वः क्रियायामुपकरोति तेनोत्तरे उपकर्तुं शक्नुवन्ति। यत्तु-पूर्वपक्षेऽ-

भाष्यका अनुवाद

वृत्तिके भेदका ग्रहण उनमें अग्नित्व और ग्रह आदिकी कल्पना करती है, पुरुष यज्ञके समान। और छत्तीस हजार यह संख्या पुरुषके आयुष्यके दिनोंमें प्रत्यक्ष अनुभूत होती हुई उसके सम्बन्धी मनोवृत्तियोंमें उसका आरोप किया जाता है, ऐसा समझना चाहिए। इस प्रकार अनुबन्धसे मनश्चित् आदि अग्नियाँ स्वतन्त्र हैं। सूत्रस्थ आदि शब्दसे अतिदेश आदिकी यथासम्भव योजना करनी चाहिए। जैसे कि 'तेषामेकैक एव०' (उन अग्नियोंमेंसे एक एक उतना है, जितनी कि यह पूर्व अग्नि है) ऐसे क्रियामय अग्निके माहात्म्यका ज्ञानमय अग्निमेंसे एक एकमें अतिदेश करके क्रियामें अनादर दिखलाती है, इसी प्रकार क्रियासम्बन्धके होनेपर ही उत्तर अग्नियोंका (सांपादिक अग्नियोंका) पूर्व अग्निके साथ विकल्प है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जिस आहवनीय हविष्के धारण आदि व्यापारसे पूर्व अग्नि क्रियामें उपकारक होती है, उस व्यापारसे उत्तर अग्नियाँ उपकारक नहीं हो सकती हैं।

रत्नप्रभा

भवति, किन्तु विकल्पार्थं इत्यत आह—**न चेति**। एकस्मिन् साध्ये निरपेक्ष-साधनयोर्विकल्पो भवति, यथा व्रीहियवयोः, अत्र तु क्रियाग्नेर्ध्यानाग्नीनां साध्य-भेदात् न विकल्प इत्यर्थः। अत एव समुच्चयोऽपि निरस्तः। यदुक्तं क्रियाङ्ग-त्वसामान्येनाऽतिदेश इति, तन्नेत्याह—**यत्तु इति**। सूत्रे बहुवचनार्थमाह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

आदरके अभावके लिए नहीं होता है, किन्तु विकल्पके लिए होता है, इसपर कहते हैं—"न च" इत्यादिसे। साध्यवस्तुके एक होनेपर निरपेक्ष साधनोंका विकल्प हो सकता है, जैसे व्रीहि और यवका होता है, यहाँ तो क्रियाग्नि और ध्यानाग्निका भिन्न साध्य होनेसे विकल्प नहीं है, ऐसा अर्थ है। इसीसे समुच्चयका भी निरास हुआ समझना चाहिए। और यह जो कहा है कि

भाष्य

ष्यतिदेश उपोद्बलक इत्युक्तं सति हि सामान्येऽतिदेशः प्रवर्तत इति, तदस्मत्पक्षेऽप्यग्नित्वसामान्येनाऽतिदेशसम्भवात् प्रत्युक्तम्। अस्ति हि सांपादिकानामप्यग्नीनामग्नित्वमिति। श्रुत्यादीनि च कारणानि दर्शितानि। एवमनुबन्धादिभ्यः कारणेभ्यः स्वातन्त्र्यं मनश्चिदादीनाम्, प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववत्। यथा प्रज्ञान्तराणि शाण्डिल्यविद्याप्रभृतीनि स्वेन स्वेनानुबन्धेनानुबध्यमानानि पृथगेव कर्मभ्यः प्रज्ञान्तरेभ्यश्च स्वतन्त्राणि भवन्त्येवमिति। दृष्टश्चावेष्टेः राजसूयप्रकरणपठितायाः प्रकरणादुत्कर्षो वर्णत्रयानुबन्धाद्राज-

भाष्यका अनुवाद

सामान्य—साहृश्य यदि हो, तो अतिदेश (क्रियानुप्रवेशका) पोषक है, ऐसा जो कहा गया है, उसका तो हमारे पक्षमें भी अग्नित्वरूप सामान्यसे अतिदेशका संभव होनेसे निराकरण हुआ, क्योंकि सांपादिक अग्नियोंमें भी अग्नित्व है। श्रुति आदि भी कारणरूपसे दिखलाये गये हैं। इस प्रकार अनुबन्ध आदि कारणोंसे मनश्चित् आदि अग्नियां स्वतन्त्र हैं, अन्य प्रज्ञाओंकी स्वतन्त्रताके समान। जैसे अपने अपने अनुबन्धसे सम्बद्ध हुई शाण्डिल्यविद्या आदि प्रज्ञाएँ कर्म और अन्य प्रज्ञाओंसे पृथक्—स्वतन्त्र ही हैं, इसी प्रकार यहां भी समझना चाहिए। राजसूयप्रकरणमें पढ़ी हुई अवेष्टिनामक इष्टिका प्रकरणसे उत्कर्ष देखनेमें आता है, क्योंकि तीनों वर्णोंके साथ इसका

रत्नप्रभा

श्रुत्यादीनि चेति। अनुबन्धातिदेशश्रुतिलिङ्गवाक्येभ्य इत्यर्थः। एवमिति। अर्थ इति शेषः। मनश्चिदादीनां स्वातन्त्र्ये क्रियाप्रकरणादुत्कर्षः स्यादित्याशङ्क्य स इष्ट इत्याह—दृष्टश्चेति। एकादशे चिन्तितम् (जै० न्यायमाला २।३।२) 'राजा स्वाराज्यकामो राजसूयेन यजेत' इति प्रकृत्य अवेष्टिनाम काचिदिष्टिराम्नाता—'आग्नेयोऽष्टाकपालो हिरण्यं दक्षिणा' 'वैश्वदेवं चरुं पिशङ्गी पष्ठौही

रत्नप्रभाका अनुवाद

क्रियाङ्गत्वके सामान्य होनेसे अतिदेश है, यह भी नहीं हो सकता है, ऐसा कहते हैं—"श्रुत्यादीनि च" इत्यादिसे। अनुबन्ध अतिदेश, श्रुति, लिङ्ग और वाक्यसे, ऐसा अर्थ है। "एवम्" इत्यादि। अर्थशब्दका अध्याहार करना चाहिए। मनश्चित् आदिको यदि स्वतन्त्र माना जायगा, तो क्रिया-प्रकरणसे उत्कर्ष होगा, इस प्रकार आशङ्का करके वह इष्ट है, ऐसा कहते हैं—"दृष्टश्च" इत्यादिसे। पूर्व काण्डमें ग्यारहवें अध्यायमें विचार किया गया है 'राजा स्वराज्याकामो०' (स्वर्गके राजा होनेकी इच्छा करनेवाला राजसूय याग करे) इसका उपक्रम करके

रत्नप्रभा

दक्षिणा' 'मैत्रावरुणीमामिक्षां वशा दक्षिणा' 'बार्हस्पत्यं चरुं शितिपृष्ठो दक्षिणा' 'ऐन्द्रमेकादशकपालमृषभो दक्षिणा' इति। तस्यां वर्णभेदेन प्रयोगभेदः श्रूयते— 'यदि ब्राह्मणो यजेत बार्हस्पत्यं मध्ये निधायाहुतिं हुत्वाभिघारयेत्'। 'यदि वैश्यो वैश्वदेवं चरुं निधाय मध्ये निदध्यात् 'यदि राजन्यस्तदैन्द्रम्' इति आग्नेयैन्द्रपुरोडाशयोर्मध्ये बार्हस्पत्यं चरुं निधाय निर्वपेदित्यर्थः। तत्राग्नेयादिचरुषु अङ्गानां तन्त्रेण प्रयोगो भाति मध्ये निधानलिङ्गात् प्रयोगभेदे मध्ये निधानायोगात्, 'एतयान्नाद्यकामं याजयेद्' इत्येकवचनाच्च। स च तन्त्रप्रयोगो राजसूयक्रतुबाह्यायामन्नाद्यकामवर्णत्रयकर्तृकायामेवाऽवेष्टौ ज्ञेयः, न तु क्रत्वन्तर्गतायाम्। ननु किमत्र नियामकं क्रत्वर्थायामप्यवेष्टौ तन्त्रप्रयोगः किं न स्यादिति चेत्, न, वर्णत्रयसंयुक्तायां काम्यायामेव अङ्गतन्त्रैक्यसाधकस्य मध्ये निधानादिलिङ्गस्य सत्त्वात्। अतो लिङ्गैकवचनाभ्यां तन्त्रैक्ये सति हिरण्यादिका मिलितैकैव दक्षिणा देया, अन्यथा प्रयोगैक्यायोगात्। राजमात्रकर्तृकक्रत्वन्तर्गतेष्टौ तु वर्णत्रयसंयोगाभावात् मध्ये निधानादिलिङ्गं नास्ति, ततश्च तन्त्रैक्यसाधकाभावात् दक्षिणाभेदेन तन्त्रभेद इत्यङ्गानामावृत्तिरेव चरुष्विति सूत्रार्थः। अत्र चैकप्रयोगलिङ्गस्य क्रत्वर्थेष्टावसम्भवं काम्येष्टौ

रत्नप्रभाका अनुवाद

अवेष्टिनामकी इष्टिका कथन किया गया है—'आग्नेयोऽष्टाकपालो०' 'बार्हस्पत्यं चरुं शितिपृष्ठो०' 'ऐन्द्रमेकादश' इत्यादि। उसमें वर्णके भेदसे प्रयोगका भेद सुना जाता है—यदि ब्राह्मण याग करे, तो बार्हस्पत्यको मध्यमें रखकर आहुतिका अभिघारण करे (घृतकी धारा दे) यदि वैश्य हो, तो वैश्वदेव चरुका मध्यमें धारण करे, यदि राजा हो, तो ऐन्द्रका धारण करे, इत्यादिसे। आग्नेय और इन्द्रके मध्यमें, बार्हस्पत्य चरुका धारण करे, ऐसा अर्थ है। उसमें आग्नेयादि चरुओंमें अङ्गोंका तन्त्रसे प्रयोग है इसी तरह 'एतयान्नाद्यकामं याजयेत्' इस प्रकार एकवचन है। और वह तन्त्ररूपसे प्रयोग राजसूयक्रतुसे बहिर्भूत अन्न आदिकी अभिलाषासे तीनों वर्णों द्वारा की जानेवाली अवेष्टि नामक इष्टिमें जानना चाहिए, अन्य क्रतुकी इष्टिमें नहीं। परन्तु क्रत्वर्थ होनेपर भी अवेष्टि नामक इष्टिमें तन्त्रसे प्रयोग नहीं होता है, उसमें प्रयोजक क्या है ? यह प्रश्न युक्त नहीं है, क्योंकि तीनों वर्णोंसे संयुक्त काम्य इष्टिमें ही एक अङ्ग तन्त्रमात्रसे साध्य निधान आदि लिङ्गका मध्यम वृत्तित्व है, इससे लिङ्ग और तन्त्रके ऐक्य होनेपर हिरण्य आदि मिलित एक ही दक्षिणा दी जानी चाहिए, अन्यथा एक प्रयोगका योग नहीं होगा। राजमात्रकर्तृक क्रतु-राजसूयके अन्तर्गत इष्टिमें, तो तीनों वर्णोंका संयोग होनेके कारण मध्यमें निधानादि लिङ्ग नहीं है इसलिए एक तन्त्रके साधकके न होनेसे दक्षिणाके भेदसे तन्त्रका भेद है, अतः अङ्गोंकी चरुमें आवृत्ति ही है, ऐसा सूत्रार्थ है। यहाँ एक प्रयोग लिंगका क्रत्वर्थ इष्टिमें असम्भव है और काम्येष्टिमें सम्भव है, इस प्रकार प्रतिपादन

अच्युतग्रन्थमालासे प्रकाशित पुस्तकोंका सूचीपत्र

(क) विभाग

१–भगवन्नामकौमुदी—[भगवन्नामकी महिमाका प्रतिपादक अनुपम ग्रन्थ] मीमांसाके धुरन्धर विद्वान् श्रीलक्ष्मीधरकी कृति, अनन्तदेवरचित 'प्रकाश' टीकासहित। सम्पादक–आचार्यवर गोस्वामी दामोदर शास्त्री।

पृ० सं० १५०, मू.—आ. १०

२–भक्तिरसायन—[भक्तिस्वरूपका परिचायक अत्युत्तम ग्रन्थ] यतिवर श्रीमधुसूदन सरस्वतीरचित प्रथम उल्लासमें ग्रन्थकाररचित शेष दो उल्लासोंमें आचार्यवर गोस्वामी दामोदर शास्त्री रचित टीकासे विभूषित। सं०—आचार्यवर गोस्वामी दामोदर शास्त्री। पृ० सं० १७०, मू.–आ. १२

३–शुल्बसूत्र—[कात्यायनश्रौतसूत्रका परिशिष्ट अंश] वेदाचार्य पं० विद्याधर गौड़की बनाई हुई सरलवृत्तिसहित। सं०–वेदाचार्य विद्याधर गौड़।

पृ० सं० ६०, मू.—आ. ४

४–कात्यायनश्रौतसूत्र—[इसमें दर्शपूर्णमाससे लेकर अश्वमेध, पितृमेधपर्यन्त कितने ही यज्ञोंकी विधियां साङ्गोपाङ्ग वर्णित हैं] महर्षि कात्यायनप्रणीत, वेदाचार्य पं० विद्याधर गौड़ द्वारा रचित सुसरल वृत्तिसे अलंकृत। सं०–वेदाचार्य विद्याधर गौड़। पृ० सं० लगभग १०००, मू. –रु. ६

५–प्रत्यक्तत्त्वचिन्तामणि—(प्रथम भाग) [शाङ्करभाष्यानुसार वेदान्तका सुसरल पद्यमय ग्रन्थ] श्रीसदानन्द व्यासविरचित, ग्रन्थकाररचित सरल संस्कृत टीकासहित। सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री।

पृ० सं० ३४०, मू.–रु. २

६–भक्तिरसामृतसिन्धु—[भक्तिरससे परिपूर्ण यह ग्रन्थ सचमुच पीयूषसिन्धु है] श्रीरूप गोस्वामीप्रणीत, श्रीजीव गोस्वामीप्रणीत दुर्गमसङ्गमनी टीकासहित। सं०–आचार्यवर गोस्वामी दामोदर शास्त्री। पृ० सं० ६२५, मू०–रु०३

७–प्रत्यक्तत्त्वचिन्तामणि—(द्वितीय भाग) पृ० सं० ४५० मू०–रु. २ आ. ४

८–तिथ्यर्क—[तिथियोंके निर्णय आदिपर अपूर्व एवं प्रामाणिक ग्रन्थ] श्रीदिवाकर विरचित। सं०साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री।

पृ० सं० ३४०, मू०–रु० १ आ० ८

९–परमार्थसार—[वेदान्तका अति प्राचीन ग्रन्थ] श्रीपतञ्जलि भगवान्‌की कृति, प्राचीन टीका तथा टिप्पणीसे विभूषित। सं०—न्यायव्याकरणाचार्य श्रीसूर्यनारायणशुक्ल। पृ० सं० १००, मू.–आ. ६

१०–प्रेमपत्तन—[श्रीकृष्णभक्तिसे सराबोर चैतन्य-सम्प्रदायका अपूर्व ग्रन्थ] भक्तवर रसिकोत्तंसकी कृति तथा अद्भुतप्रणीत टीकासे अलंकृत। सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री। पृ. सं. २३०, मू.–रु. १

(ख) विभाग

१–खण्डनखण्डखाद्य—कवितार्किकशिरोमणि श्रीहर्षरचित, पंडितवर श्रीचण्डीप्रसाद शुक्ल विरचित भाषानुवादसे विभूषित।

पृ० सं० ४३५ (बड़ा आकार) मू.–रु. २ आ. १२

२–काशी-केदार-माहात्म्य—[ब्रह्मवैवर्तपुराणान्तर्गत] साहित्यरञ्जन पं० श्रीविजयानन्द त्रिपाठीद्वारा विरचित भाषानुवादसहित। सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री। पृ० सं० २६+६०४, मू.–रु. २ आ. ८

३–सिद्धान्तबिन्दु—(वेदान्तका प्रमेयबहुल अपूर्व ग्रन्थ) आचार्यप्रवर श्रीमधुसूदन सरस्वतीविरचित, भाषानुवाद तथा टिप्पणीसे विभूषित। सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री। पृ० सं २८०, मू. रु. १ आ. ६

५–प्रकरणपञ्चक—भगवान् शङ्कराचार्यके आत्मबोध, प्रौढानुभूति, तत्त्वोपदेश आदि ५ प्रकरण-ग्रन्थोंका भाषानुवादसहित संग्रह। सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री। पृ० सं० १३१, मू.–आ. ८

यन्त्रस्थ ग्रन्थ—

१ षट्सन्दर्भ, विविध टीकाओंसे विभूषित।

मिलनेका पता—

(१) अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालय, काशी।

(२) गीताप्रेस, गोरखपुर।



नोट—अच्युतग्रन्थमालाके स्थायी ग्राहकोंको उक्त सभी पुस्तकें पौन मूल्यपर दी जाती हैं। 'अच्युत' मासिक पत्रके स्थायी ग्राहक (ख) विभागके स्थायी ग्राहक समझे जायँगे।